भगवान् महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष मे प्रकाशित

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थमाला का ३३वा रत्न

- पुस्तक

प्राकृत काव्य-सौरभ

- सम्पादक

डॉ. प्रेम सुमन जैन

- आशीर्वचन

राजस्थान केशरी प्रसिद्ध वक्ता पुष्कर मुनि जी महाराज

- प्रकाशक

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय,
शास्त्री सर्कल, उदयपुर (राजस्थान)

- प्रथम प्रवेश

१३ नवम्बर, १९७४

- मूल्य : पांच रुपये

- मुद्रक : उपवन प्रिन्टर्स, उदयपुर (राज०)

PRAKRIT KAVYASAURABHA : Dr. Prem Suman Jain

अनुक्रमणिका

प्रकाशकीय

०●

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय एक विशुद्ध साहित्यिक सस्थान है। इस सस्था का लक्ष्य उत्कृष्ट साहित्य के प्रकाशन का रहा है। सस्था ने अल्प अवधि मे मौलिक चिन्तन प्रधान, शोध प्रधान और जनोपयोगी महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाशित कर जन-जन के मन मे अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। हमारे चरण निरन्तर आगे बढ़ रहे हैं और हम चाहते हैं कि ऐसा महत्त्वपूर्ण साहित्य प्रकाशित करें जिससे जैन सस्कृति की यशोगाथा दिगदिगन्त मे गू ज उठे।

श्रीयुत डॉ० प्रेम सुमन जैन द्वारा सम्पादित 'प्राकृत काव्यसौरभ' प्रकाशित करते हुए हमारा हृदय आनन्द विभोर है। डॉ० जैन पालि, प्राकृत, जैनिज्म और प्राचीन इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् हैं। उदयपुर विश्वविद्यालय मे वे प्रस्तुत विषय के प्रवक्ता हैं। ऐसे अधिकृत विद्वान् के द्वारा एम. ए. के पाठ्यक्रम के लिए तैयार की गई प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थियो के लिए अत्यन्त उपयोगी है, ऐसा हम साधिकार कह सकते हैं।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय का यह सौभाग्य है कि महामनीषी परम श्रद्धेय राजस्थान केशरी प्रसिद्ध वक्ता श्री पुष्कर मुनिजी महाराज का वरदहस्त प्राप्त हुआ है। उनके निर्देशन मे ग्रन्थालय ९ वर्षों से निरन्तर सत्साहित्य प्रकाशन की दिशा मे प्रगति कर रहा है। प्रस्तुत पुस्तक भी उन्ही की कृपा से हमें प्रकाशन को प्राप्त हुई है।

हमे आशा और विश्वास है कि अन्य प्रकाशनो की भाँति प्रस्तुत पुस्तक भी पाठकों को ज्ञानवर्धक और रुचिकर प्रतीत होगी। पाठक इसे अधिकाधिक अपना कर हमारे उत्साह को बढायेंगे।

मत्री
श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय
शास्त्री सर्कल, उदयपुर

आशीर्वचन

••

मुझे परम आह्लाद है कि जैन विद्वानो का ध्यान अपने धर्म, दर्शन, साहित्य, सस्कृति और भाषा के गौरव की ओर केन्द्रित हो रहा है। वे नित्य-नूतन सुन्दर, सरस साहित्य सृजन कर अपने गौरव की अभिवृद्धि कर रहे है।

डॉ० प्रेम सुमन जैन का प्रथम परिचय मुझे उदयपुर मे हुआ। मैंने अनुभव किया कि वे एक मजे हुए विद्वान् हैं। विद्वान् होने पर भी उनमे तनिक मात्र भी अभिमान नही है। उनका स्वभाव बडा ही मृदु है। वे अभी युवा हैं, शरीर से ही नही, मन से भी। वे प्राकृत भाषा का प्रचार भारत के एक किनारे से दूसरे किनारे तक देखना चाहते हैं। उनके मन मे प्राकृत के प्रचार की अत्यधिक तडपन है। उन्होने अपने हृदय की बात मुझ से कही। मुझे उनकी योजना पसन्द आई। जैन समाज का धनिक वर्ग यदि अपना ध्यान इधर केन्द्रित करे तो प्राकृत भाषा और जैन सस्कृति का प्रचार सुगमता से हो सकता है।

श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय से उनके द्वारा सम्पादित 'प्राकृत काव्य-सौरभ' पुस्तक प्रकाशित हो रही है। यह पुस्तक मुझे पसन्द आई है। इसमे अर्धमागधी प्राकृत और शौरसेनी प्राकृत काव्यधारा का सुन्दर चयन हुआ है। साथ ही 'प्राकृत भाषा एव आगम साहित्य' शीर्षक भूमिका मे अत्यन्त सक्षेप मे प्राकृत भाषा और आगम के सम्बन्ध मे जानकारी दी गई है, जो सम्पादक के गभीर अध्ययन की परिचायक है।

आशा है, प्राकृत भाषा के प्रेमी और अध्येता छात्रगण डॉ० सुमन की 'अपभ्र श काव्यधारा' एव 'प्राकृत चयनिका' की भाति प्रस्तुत पुस्तक का भी हृदय से समादर करेगे। सरस्वती के महामन्दिर मे सरस्वती के महान् पुत्र की प्रस्तुत भेंट चिरायु हो, यही मगल कामना है।

जैन स्थानक, अहमदाबाद

अक्टूबर, १९७४

पुष्कर मुनि

दो शब्द

००

डा प्रेम सुमन जैन की अश्रान्त साहित्य-साधना से प्राकृत एव अपभ्रंश-काव्य प्रवाह के पिपासु पाठक परिचित हैं। 'प्राकृत चयनिका' एवं 'अपभ्रंश काव्यधारा' नामक दो पुस्तको के प्रकाशन के अनन्तर उसी क्रम में 'प्राकृत काव्य-सौरभ' प्रस्तुत है।

ई पू छठी शताब्दी से लेकर १६०० ई तक प्राकृत साहित्य की सर्जना जानी-मानी सभी साहित्यिक विधाओ मे होती रही है। इस सुदीर्घकाल का युगदर्पण अभी भी धूल से आच्छन्न है। क्योकि भारतीय पाठक सस्कृत तक पहुँचा भी तो प्राकृत को छोडकर। भारतीय समाज और साहित्य के प्रामाणिक अध्ययन के लिए साथ ही आधुनिक भारतीय भाषाओ की मूल आत्मा तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने शिक्षादर्शन को समन्वित बनाकर प्राकृत-सस्कृत को एक साथ पढ सकें। अन्यथा ज्ञान की कड़िया कभी जुड न सकेंगी। प्राकृत भाषा के इस प्रकार के सकलन भाषागत समन्वय को बल देते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका मे प्राकृत भाषा एव आगम साहित्य के परिचय के साथ सकलन मे सम्मिलित पाठो का सार-विवेचन दिया गया है। अनुवाद परिष्कृत, सरल एव प्राञ्जल है। बहुत से पाठक यह चाहेंगे कि संकलन और भी विस्तृत हो तथा सटिप्पण भी। आशा है, इस पुस्तक का विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम के लिए स्वागत होगा ताकि अगला सस्करण शीघ्र और समृद्ध होकर निकल सके।

५ नवम्बर, ७४

डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी
आचार्य एवं अध्यक्ष-सस्कृत विभाग
तथा अधिष्ठाता-मानविकी संकाय
उदयपुर विश्वविद्यालय

स्वकथन

००

जैन आगम ग्रन्थो का पठन-पाठन दिनो-दिन गतिशील हो रहा है। चतुर्विध संघ के अतिरिक्त विश्वविद्यालयो मे भी अर्धमागधी और शौरसेनी आगम ग्रन्थ अंशतः अध्ययन के विषय बन रहे हैं। इनको पढने वाले छात्रो की सख्या कम होने से इन ग्रन्थो के सुगम सस्करण उपलब्ध नही हैं। अत' विशालकाय ग्रन्थो मे से प्राकृत भाषा के प्राचीनतम स्वरूप को जानने के लिए कुछ पद्यभाग का संकलन यहां प्रस्तुत किया गया है। प्रयन्न किया गया है कि प्रामाणिक पाठ वाले संस्करणो से ही प्राकृत के मूल पाठ लिये जाएँ तथा उनका हिन्दी अनुवाद शब्दार्थ को ध्यान में रखते हुए आधुनिक शैली मे दिया जाय।

'प्राकृत काव्य-सौरभ' में अर्धमागधी आगमो में से आचाराग के उपधानश्रुत को लिया है, जिसमे भगवान् महावीर के साधना-जीवन का वर्णन है। उत्तराध्ययनसूत्र मे से विनयसूत्र, असस्कृत, कापालियम्, अप्रमाद-पद एव भावना-पद की गाथाओ को सकलित किया गया है। ये सभी गाथाए नैतिक-उत्थान एव आध्यात्मिक-जागरण के प्रति प्रेरणा देने वाली हैं। शौरसेनी आगमो मे से प्रवचनसार के ज्ञानाधिकार को लिया गया है। इसमें ज्ञान के स्वरूप, आत्मा के भेद-प्रभेद तथा इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख की सुन्दर व्याख्या की गयी है। केवली के वास्तविक स्वरूप को समझाया गया है। भगवती आराधना की गाथाए मन-इन्द्रिय और कषाय पर विजय प्राप्त करने की प्रेरणा देती हैं।

आगम ग्रन्थो के मूलपाठो के अतिरिक्त प्रस्तुत पुस्तक मे विमलसूरि के पउमचरियं से अजना एव पवनजय की कथा का एक मार्मिक प्रसग भी दिया गया है। यह कथा रामकथा के साथ जुडी हुई है। इससे ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों ने धर्म प्रभावना के लिए लोक मे प्रचलित कथानको को ही महत्त्व नही दिया, अपितु भारतीय महापुरुषों को समादृत भी किया है।

प्राकृत भाषा का क्रमिक विकास एव उसके भेद-प्रभेदों का संक्षिप्त विवेचन तथा आगम साहित्य का परिचय पुस्तक की प्रारम्भिक भूमिका मे दे दिया गया

है। प्राकृत के मूल पाठों का हिन्दी अनुवाद इसलिए अन्त में दिया गया है, ताकि छात्र प्राकृत को रुचिपूर्वक सीख सकें। यद्यपि यह सस्कृत की पाठ्य-पुस्तकों जैसी अन्वय, व्याख्या आदि से युक्त तो नही है, फिर भी आशा की जाती है कि 'प्राकृत चयनिका' एव 'अपभ्र श-काव्यधारा' की भाँति यह पुस्तक भी प्राकृत के जिज्ञासुओ के लिए उपयोगी साबित होगी।

प्रस्तुत पुस्तक मे जिन सम्पादको के ग्रन्थो से सामग्री ली गयी है उनका निर्देश भूमिका के अन्त मे (पृ ३६) मैंने कर दिया है। उनका मैं हृदय से आभारी हूँ। श्रद्धेय प्रोफेसर डॉ. रामचन्द्र द्विवेदी की प्रेरणा से मैं प्राकृत की पाठ्यपुस्तको के निर्माण-कार्य मे प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रवेशिका से एम ए. तक की पाठ्य-पुस्तको के प्रकाशन की योजना है। अगली कडी 'प्राकृत लौकिक काव्य' होगी। आशा है, उनका मार्गदर्शन निरन्तर मिलता रहेगा। अन्य विद्वानो के सुझावो की भी प्रतीक्षा रहेगी।

श्रद्धेय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के आशीपवचन हेतु एव आदरणीय जैनतत्ववेत्ता देवेन्द्र मुनि जी के निरन्तर प्रोत्साहन के लिए मैं नतमस्तक हूँ। आभार व्यक्त करता हूँ श्रीमान् मन्त्री, तारक जैन ग्रन्थालय के प्रति, जिन्होंने इसके प्रकाशन की शीघ्र व्यवस्था की है। श्री हमीद भाई का परिश्रम पुस्तक के मुद्रण से अभिव्यक्त है। उनको धन्यवाद।

४, रवीन्द्र नगर, उदयपुर

प्रेम सुमन जैन

प्राकृत भाषा एवं आगम साहित्य

जनभाषा प्राच्या, छान्दस् और प्राकृत :

किसी भी भाषा के सम्बन्ध मे यह कहना कठिन है कि वह कितनी प्राचीन और किस विशेष प्रदेश की है। क्योकि उसके मूलरूप को ठीक-ठीक निर्धारित करना दुष्कर है। फिर भी भाषाविदो ने अनेक तथ्यो के आधार पर ससार की भाषाओ के प्राचीन रूप को खोजने का प्रयत्न किया है। उन्हे प्रमुख रूप से बारह भाषापरिवारो मे विभक्त किया गया है। भारत की भाषाओ का अध्ययन की दृष्टि से भारोपीय परिवार की शाखा 'भारत-ईरानी' परिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

'भारत-ईरानी' परिवार को तीन भागो मे विभक्त किया गया है—(१) ईरानी शाखा परिवार (२) दरद शाखा परिवार और (३) भारतीय आर्य शाखा परिवार। प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारतीय आर्य शाखा परिवार से है। प्राकृत भाषा के उद्भव अथवा प्राचीन रूप को जानने के लिए हमे भारतीय आर्य शाखा परिवार के विकास को समझना होगा।

भारतीय भाषाओ के साहित्य मे एकरूपता नही है। प्रत्येक युग का साहित्य एव भाषा अपनी निजी विशेषता रखती है। फिर भी लगभग एक हजार वर्ष तक के साहित्य और भाषा मे कुछ घनिष्टता वनी रहती है। इस कारण विद्वानो ने भारतीय आर्य शाखा परिवार के विकास को तीन युगो मे विभक्त किया है—(१) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल (१६०० ई० पू० से ६०० ई० पू० तक) (२) मध्यकालीन आर्य भाषाकाल (६०० ई०पू० से १००० ई०तक) तथा (३) आधुनिक आर्य भाषाकाल (ई० १००० से वर्तमान समय तक)। प्राकृत भाषा का किसी न किसी रूप मे इन तीनो कालो से सम्बन्ध वना रहा है, जो इस प्रकार है।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल मे जो भाषाएँ प्रचलित थी उनके रूप ऋग्वेद की ऋचाओ मे उपलब्ध होते हैं। अत वैदिक भाषा ही प्राचीन भारतीय

आर्य भाषा है। उसके अध्ययन से प्राकृत के उत्स को समझने मे सहयोग मिलता है। वैदिक युग की भाषा मे तत्कालीन प्रदेश विशेषों की लोकभाषा के भी कुछ रूप प्राप्त होते हैं। विशेषकर अथर्ववेद की भाषा मे। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषा के अतिरिक्त उस समय बोलचाल की भी कोई भाषा रही होगी। इसी कथ्य जनभाषा से धीरे-धीरे वैदिक साहित्य की भाषा, जिसे 'छान्दस्' कहा गया है, विकसित हुई है। 'वैदिक भाषा' मे प्राकृत भाषा के तत्वो के समावेश से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

वैदिक काल मे जिन देश्य भाषाओ का अस्तित्व था तथा जो तत्कालीन साहित्यिक भाषा पर प्रभाव डाल रही थी उन्हे तीन भागो मे विभक्त किया गया है—(१) उदीच्य या उत्तरीय विभाषा (२) मध्यदेशीय विभाषा तथा (३) प्राच्या या पूर्वीय विभाषा। इनमे से अतिम देश्य भाषा उन लोगों द्वारा प्रयुक्त की जाती थी जो वैदिक सस्कृति से भिन्न विचार वाले थे। इन्हे व्रात्य कहा गया है। बुद्ध और महावीर ने इन्ही की भाषा को अपने उपदेशो का माध्यम बनाया। फलत छान्दस् भाषा के साथ-साथ जनसामान्य की प्राच्या विभाषा भी भाषा के रूप मे प्रतिष्ठित होने लग गयी थी, जिसमे आगे चलकर विपुल साहित्य लिखा गया है। उधर छान्दस् भाषा से जो भाषा विकसित हुई उसे सस्कृत या लौकिक सस्कृत के नाम से जाना गया। अत विकास की दृष्टि से प्राकृत और सस्कृत दोनो सहोदरा हैं। दोनो एक ही स्रोत से उद्भूत हैं।[1] आगे चलकर सस्कृत तो नियम और अनुशासनों से इतनी बध गयी कि उसका स्वरूप निश्चित हो गया। वह देव भाषा हो गयी, किन्तु प्राकृत मे ऐसा नही हो सका। उसमे निरन्तर लोकभाषा के शब्दो का समावेश होता रहता था। अत वह रही तो प्राकृत, किन्तु नाम नये-नये धारण करती रही। यथा पालि, अर्धमागधी, अपभ्रंश आदि। इन विशेषताओ के कारण ही विद्वानो ने सस्कृत को वृद्धा कुमारी अथवा बद्ध महासरोवर एव प्राकृत को चिर युवती या बहता नीर आदि कहा है।

वैदिक सस्कृत और प्राकृत भाषा का उद्भव इसलिए भी किसी प्राचीन जनभाषा से स्वीकार किया जा सकता है क्योंकि दोनो मे कुछ समानताएँ ऐसी हैं, जो उन्हें अपनी जननी लोकभाषा से प्राप्त हुई हैं। यथा—

---

1 डा० नेमिचन्द्र शास्त्री प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृष्ठ-९

	वैदिक	प्राकृत
१. ऋकार का उकार मे परिवर्तन—	कृत=कुठ	वृन्द=वुन्द
२. सयुक्त व्यजन मे एक का लोप तथा ह्रस्व स्वर का दीर्घस्वर	— दुर्लभ=दूलभ	दुर्लभ=दूलह
३. व्यंजनान्त शब्दो का लोप	— पश्चात्=पश्चा	तावत्=ताव
४. सयुक्त र और य का लोप	— अप्रगल्भ=अपगल्भ	प्रगल्भ=पगब्भ
५ सयुक्त वर्ग का पूर्व स्वर ह्रस्व होना	— रोदसीप्रा=रोदसिप्रा — अमात्र=अमत्र	पात्र=पत्र रात्रि=रत्ति
६. संस्कृत द का ड होना	— दुर्दभ=दूडभ — पुरोदास=पुरोडास	दण्ड=डण्ड दोला=डोला
७. ध का ह मे परिवर्तन	— प्रतिसधाय=प्रतिसहाय	वधिर=वहिर
८. सयुक्त व्यंजनो के बीच मे स्वर का आगाम	— स्वर्ग=सुवर्गः — तन्व.=तनुव.	क्लिष्ट=किलिट्ठ तन्वी=तणुवी
९. प्रथमा के एकवचन मे ओकार	— सचित=सोचित् — सम्वत्सर —सम्वत्सरो	देव.=देवो जिन·=जिणो
१० तृतीया विभक्ति के बहुवचन के रूपो मे अनुरूपता	— देवेभि —देवेहि	देवेभि.=देवेहि

११ चतुर्थी के स्थान मे षष्ठी विभक्ति दोनो में समान

१२. द्विवचन के स्थान मे बहुवचन का प्रयोग आदि।[1]

इस प्रकार संस्कृत और प्राकृत भाषा के बीच किसी प्रकार का कार्य-कारण या जन्य-जनक भाव नही है। दोनो के विकास का स्रोत एक है। डॉ एलफ्रेड,

---

[1] पाइअसद्दमहण्णओ की भूमिका, पृष्ठ, २५-२६।

डॉ. सी. वुल्नर[1], डॉ पिशल[2], डॉ. पी.डी. गुणे[3] आदि विद्वान् भी प्राकृत भाषा के स्रोत के रूप मे एक प्राचीन लोकभाषा को स्वीकार करते हैं, जिससे छान्दस् भाषा का भी विकास हुआ है।

किसी भी भाषा के दो रूप होते हैं–कथ्य और साहित्य–निबद्ध। कथ्य भाषा सर्वदा परिवर्तनशील होती है, किन्तु जब वह साहित्य और व्याकरण के नियमो से बध जाती है तो उसका विकास रुक जाता है। अत पुन जनभाषा से एक नयी भाषा उभर कर आती है जो साहित्य और जनमानस मे सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। यही स्थिति प्राकृत भाषा के साथ हुई है। अत प्रमुख रूप से प्राकृत भाषा के विकास को दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं—कथ्य प्राकृत एव साहित्य-निबद्ध प्राकृत। इसे प्रथम स्तर की प्राकृत और द्वितीय स्तर की प्राकृत भी कहा गया है। प्रथमस्तरीय प्राकृत का यद्यपि कोई साहित्य नही मिलता, फिर भी उसका अस्तित्व स्वीकारना पडता है, जिसके स्वरूप की कुछ झलक वैदिक भाषा से प्राप्त होती है। इस कथ्य प्राकृत भाषा ने ही आगे चलकर प्राकृत साहित्य की स्वतत्र धारा प्रवाहित की है। अत उत्पत्ति और स्वरूप की दृष्टि से प्राकृत भाषा उतनी ही प्राचीन है, जितनी वैदिक भाषा। अत प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का जो काल है—१६०० ई पू. से ६०० ई पू तक—वही समय इसका माना जा सकता है।

शिलालेखो तथा साहित्य मे जिन प्राकृत भाषाओ का उपयोग हुआ है उन्हे द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषा के अन्तर्गत रखा जा सकता है। क्योकि ये प्राकृतें कई अर्थों मे प्रथम स्तरीय प्राकृत से अपनी विशेषताएँ रखती हैं। विभिन्न स्थानो मे साहित्य मे प्रयुक्त होने के कारण इस समय की प्राकृतो मे अनेक शब्द समाविष्ट होते चले जा रहे थे। सस्कृत शब्दो के सादृश्य और पार्थक्य के आधार पर उन्हे तीन भागो मे विभक्त किया गया है—(१) तत्सम (२) तद्भव एव (३) देश्य। जो शब्द सस्कृत से प्राकृत मे ज्यो के त्यो रूप मे ग्रहण कर लिये हैं तथा जिनकी ध्वनियो मे कुछ भी परिवर्तन नही हुआ वे तत्सम शब्द है। यथा—नीर, धूलि, कवि, ससार, कुल, जल, चित्त आदि। जो शब्द सस्कृत से वर्णलोप, वर्णागम,

---

[1] इण्ट्रोडक्शन टू प्राकृत, द्वितीय सस्करण, १९२७, पृष्ठ ३-४

[2] प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, राष्ट्र भाषा परिषद् पटना, पृष्ठ १४

[3] एन इण्ट्रोडक्शन टू कम्पेरेटिव फिलालाजी, पृष्ठ १६

वर्णपरिवर्तन और वर्ण विकार द्वारा उत्पन्न हुए हैं वे तद्भव या संस्कृतभव कहलाते हैं। यथा—अग्ग=अग्र, इट्ठ=इष्ट, ईसा=ईर्ष्या, गअ=गज, चक्क=चक्र, फस=स्पर्श आदि। सभी प्राकृत-व्याकरण इन्ही तद्भव शब्दो का ही अनुशासन करते है। और वास्तव मे इन्ही शब्दो के कारण प्राकृत को सस्कृत का बिगडा हुआ रूप अथवा सस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति आदि मानने की भ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, जो निराधार हैं।

प्राकृत भाषा मे कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका सस्कृत से कोई सम्बन्ध नही है तथा जिनका अर्थ मात्र रूढि पर अवलम्बित है। ऐसे शब्दो को देश्य या देशी कहा गया है, जो जन-साधारण की बोल-चाल की भाषा से लिये गये हैं। यथा—अगय (दैत्य), आकासिय (पर्याप्त), दूराव (हस्ती), ऊसअ (उपधान), एलविल (धनाढ्य), कंदो (कुमुद), चउक्कर (कार्त्तिकेय), गड्डा (बलात्कार) आदि। इस प्रकार के देश्य शब्दो के प्रयोग के कारण स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत का लोक-भाषा के साथ हमेशा घनिष्ठ सम्बन्ध बना रहा है।

द्वितीय स्तरीय प्राकृत के भेद-प्रभेदो की चर्चा करने के पूर्व सस्कृत और प्राकृत के सम्बन्ध को स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। वैयाकरणो ने प्राकृत की प्रकृति सस्कृत को किस रूप मे माना है, इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा। तथा द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषाओ की उत्पत्ति के स्रोत का भी पता चल सकेगा।

प्राकृत के कुछ वैयाकरण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति मे 'प्रकृति' शब्द का अर्थ सस्कृत करते हुए प्राकृत भाषाओ की उत्पत्ति लौकिक सस्कृत से मानते हैं। इस सम्बन्ध मे निम्न उद्धरण दिये जाते हैं—

१. 'प्रकृति सस्कृतं, तत्र भवं तत् आगत वा प्राकृतम्' (प्राकृतव्याकरण, हेमचन्द्र)

२ 'प्रकृति सस्कृत तत्र भव प्राकृतमुच्यते' (प्राकृतसर्वस्व, मार्कण्डेय)

३. 'प्रकृतिः सस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृत स्मृतम्' (प्राकृतचन्द्रिका)

४. 'प्रकृते सस्कृतायास्तु विकृति प्राकृतो मता' (षड्भाषाचन्द्रिका, लक्ष्मीधर)

५. 'प्राकृतस्य तु सर्वमेव सस्कृत योनि' (प्राकृत-सजीवनी, वसन्तराज) इत्यादि।

वैयाकरणो के अतिरिक्त कई आलकारिको ने भी यही मत प्रकट किया है।[1] इन सबका तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द 'प्रकृति' शब्द से बना है। प्रकृति का

---

[1] दशरूपक २.६० मे टीकाकार धनिक की व्याख्या तथा वाग्भटालकार २.२ की टीका आदि।

अर्थ है, सस्कृत भाषा। अत सस्कृत भाषा से जो उत्पन्न हुई है, वह है प्राकृत भाषा। किन्तु प्राकृत शब्द की यह व्याख्या अप्रामाणिक और अव्यापक ही नही है, भाषातत्व से असगत भी है। अप्रमाणिक इसलिए कि प्राकृत शब्द का मुख्य अर्थ सस्कृत भाषा कभी नही होता। गौण अर्थ लिया नही जा सकता। अव्यापक इसलिए है कि प्राकृत के सभी शब्द सस्कृत से उत्पन्न नही हैं। और असगत इसलिए कि कभी भी साहित्य की भाषा से बोल-चाल की भाषा का जन्म नही होता। अत सस्कृत से जनभाषा प्राकृत कैसे उत्पन्न हो सकती है? संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' या योनि जिस अर्थ मे कहा गया है, उसकी तह तक पहुँचना आवश्यक है।

'प्रकृति. सस्कृतम्' का अर्थ है कि प्राकृत भाषा को सीखने के लिए सस्कृत शब्दो को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारण भेद के कारण प्राकृत शब्दो का जो साम्य-वैषम्य है, उसको दिखाना। अर्थात् सस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा को सीखने का प्रयत्न करना।[1] प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति करते समय 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्ध प्राकृतम्' अथवा 'प्रकृतीना साधारणजनानामिद प्राकृतम्' अर्थों को स्वीकार करना चाहिए। प्राचीन आचार्यों ने भी 'प्राकृत' शब्द का यही अर्थ ग्रहण किया है। आठवी शताब्दी के महाकवि वाक्पतिराज ने प्राकृत भाषा को जनभाषा माना है। और इससे ही समस्त भाषाओ का विकास स्वीकार किया है।[2] ९वी सदी के विद्वान् कवि राजशेखर ने प्राकृत को सस्कृत की योनि, विकास-स्थान कहा है।[3] ११वी शताब्दी के विद्वान् व्याख्याकार नमि साधु ने रुद्रटकृत काव्यालकार के २/१२ श्लोक की व्याख्या करते समय 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पति को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है। यथा—

'प्राकृत शब्द का अर्थ है, लोगो का व्याकरण आदि के सस्कारो से रहित स्वाभाविक वचन-व्यापार। उससे उत्पन्न अथवा वही प्राकृत-है। 'प्राक्कृत' पद से 'प्राकृत' बना है। और प्राक्कृत का अर्थ है—पहले किया गया। द्वादशाग ग्र थो मे ग्यारह अग ग्रंथ पहले किये गये हैं और इन ग्र थो की भाषा आर्ष वचन मे-सूत्र में अर्धमागधी कही गयी है, जो बालक, महिला आदि को सुबोध, सहजगम्य है और जो सकल भाषाओ का मूल है। यह अर्धमागधी भाषा ही प्राकृत है।'[4]

---

[1] प्राकृत भा. सा. आ इ —शास्त्री, पृष्ठ १३

[2] गउडवहो, १.९३

[3] बालरामायण, ४८,४९

[4] काव्यालकार, २ १२

इस प्रकार प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति तथा जन-साधारण द्वारा प्रयोग की जाने वाली भाषा होने से स्पष्ट है कि प्राकृत भाषा अत्यन्त प्राचीन है तथा उसने अनेक भाषाओ को जन्म दिया है। स्थान और कालभेद के कारण उसके स्वयं अनेक रूप साहित्य मे उपलब्ध होते हैं। किन्तु कम से कम ई पू ६०० मे प्राकृत भाषा के भेद-प्रभेदो का विकास नही हुआ था। जो परिवर्तन हो रहे थे वे सामान्य प्राकृत के अन्तर्गत ही थे। सामान्य प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ निम्नाकित हैं—

१. भारतीय आर्यभाषा के ऋ, ॠ, ॡ का सर्वथा लोप

२. ऋवर्ण के स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग

३. ऐ और औ के स्थान पर ए और ओ का प्रयोग

४. प्राय ह्रस्व स्वर सुरक्षित हैं

५ सयुक्त व्यजनो का समीकरण

६ विसर्ग का लोप तथा उसके स्थान पर ए या ओ का प्रयोग

७. पदान्त व्यजनो का लोप एवं अन्तिम म् को अनुस्वार

८ श, ष और स के स्थान प्राय: स का प्रयोग

९. तवर्ग के स्थान पर टवर्ग का प्रयोग

१०. द्विवचन का लोप

११. पालि को छोड शेष प्राकृतो मे आत्मनेपद का अभाव

१२. षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान पर और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान पर प्राय: होता है। इत्यादि।[1]

विभिन्न प्राकृतें : जितने प्रयोग, उतने रूप :

सस्कृत की भाँति प्राकृत भाषा के प्रयोग में एकरूपता नही है। विभिन्न विभाषाओ के बीज क्रमश उसमे सम्मिलित होते रहे हैं। इसका स्पष्ट रूप से ज्ञान

---

[1] विशेष द्रष्टव्य—प्रा. सा. इ —शास्त्री, पृष्ठ २१-२३

साहित्यिक प्राकृत के अध्ययन से होता है। अत कथ्य प्राकृत का अपना अलग स्तर है और साहित्य मे प्रयुक्त प्राकृत का अलग, जिसे द्वितीय स्तर की प्राकृत कहा गया है। भाषा के प्रयोग एव काल की दृष्टि से द्वितीय स्तरीय प्राकृत के तीन भेद किये जा सकते है—प्रथम युग, मध्य युग एव अपभ्रंश युग।

प्रथम युग

ई० पू० छठी शताब्दी से ईसा की द्वितीय सदी तक के बीच प्राकृत मे लिखे गये साहित्य की भाषा प्रथमयुगीन प्राकृत कही जा सकती है। इस प्राकृत के प्रमुख पाँच रूप प्राप्त होते हैं (१) आर्ष प्राकृत (२) शिलालेखी प्राकृत (३) निया प्राकृत (४) धम्मपद की प्राकृत तथा (५) अश्वघोष के नाटको की प्राकृत। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१. आर्षप्राकृत

यद्यपि द्वितीय स्तरीय प्राकृत का सबसे प्राचीन लिखित रूप शिलालेखी प्राकृत मे मिलता है। किन्तु शिलालेख लिखे जाने के पूर्व भी भगवान् बुद्ध और महावीर ने अपने उपदेशो में जनभाषा का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया था, जिसका परम्परा से बाद मे साहित्य रूप मे आकलन किया गया। क्रमश पालि तथा अर्धमागधी नाम से उनकी भाषा को जाना गया। अत शिलालेखी प्राकृत से पालि और अर्धमागधी आदि प्राकृत को प्राचीन स्वीकार करना उचित प्रतीत होता है। दो महापुरुषो द्वारा धार्मिक प्रचार के लिए प्रयुक्त भाषा को आर्ष प्राकृत कहने मे भी कठिनाई नही है।

(क) पाली

जिसे आज पालि के नाम से जाना जाता है वह भाषा पहले बुद्धवचन के रूप मे प्रचलित थी। भाषा के रूप मे पालि शब्द का व्यवहार लगभग १४ वी सदी से हुआ है। भगवान् बुद्ध ने जिस भाषा का प्रयोग किया था वह गाँवो मे बोली जाने वाली ग्राम्य भाषा थी, जिसका प्रसार किसी निश्चित प्रदेश या जनपद तक ही सीमित था। धीरे-धीरे जब बौद्ध आगमो का पठन-पाठन निश्चित हुआ तथा लेखन प्रारम्भ हुआ तब तक इस भाषा ने एक निश्चित रूप धारण कर लिया था। उसमे विशेष परिवर्तन बाद के पालि साहित्य में भी नही हुआ। पालि भाषा एक प्रकार से उपदेशो और साहित्य की भाषा ही बन गयी थी। अत. वह बोल-चाल की भाषा नही रही। इस कारण पालि भाषा ने आगे चलकर किसी भाषा विशेष को जन्म नही दिया। जबकि प्राकृत की सन्तति निरन्तर बढती रही।

पालि शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे विद्वानो मे एकमत नही है। भिक्षु जैगदीश काश्यप की स्थापना के अनुसार 'पलियाय' (परियाय) शब्द से 'पालि' रूप प्रचलित हुआ है, जो भाषा-तत्त्वो के अनुसार सभव है। भिक्षु सिद्धार्थ सस्कृत के 'पाठ' शब्द का प्राकृतरूपान्तर पालि मानते हैं। प० विधिशेखर भट्टाचार्य ने पालि शब्द को 'पक्ति' वाचक कहा है। इस मत को पालि भाषा और साहित्य का भी समर्थन प्राप्त है। इसके अतिरिक्त विदेशी विद्वानो मे मेक्समूलर ने पालि को पाटलि' (पाटलिपुत्र-पटना) का सक्षिप्त रूप माना है। अर्थात् पालि पाटलिपुत्र मे बोली जाने वाली भाषा थी। एक अन्य मत के अनुसार पालि की व्युत्पत्ति 'पल्लि' (गाँव) शब्द से सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया है। यद्यपि इन सभी स्थापनाओ मे कुछ न कुछ कमी है। किन्तु जिस प्रकार से पालि भाषा का गठन हुआ उसको ध्यान मे रखते हुए विभिन्न ग्राम बोलियो के मिश्रण से इस भाषा का विकास माना जा सकता है। अतः 'पलियाय' शब्द से 'पालि' रूप प्रचलित होना अधिक उचित प्रतीत होता है।[1]

मिश्रित भाषा होने के कारण पालि किस प्रदेश की भाषा थी यह कह पाना भी बड़ा कठिन है। देशी-विदेशी विद्वानों ने इस सम्बन्ध मे विभिन्न मत प्रगट किये हैं। किन्तु यदि यह निश्चित हो जाय कि पालि मे किस विशेष भाषा की प्रमुखता थी तो उसके स्थान को भी खोजा जा सकता है। अधिकांश विद्वान् पालि का आधार ऐसी भाषा को मानते हैं जो मगध मे बोली जाती थी। किन्तु वह विशुद्ध मागधी नही थी। अतः प्राकृत के भेद-प्रभेदो मे जिस मागधी प्राकृत का उल्लेख आता है उससे यह कुछ भिन्न थी और शायद इसीलिए पालि का साटृश्य जितना वैदिक भाषा और पैशाची प्राकृत से है, उतना अन्य किसी प्राकृत से नही। इस अर्थ मे इसे प्राकृत का प्रारम्भिक या प्राचीन रूप भी स्वीकार किया जा सकता है।

साहित्य की दृष्टि से पालि पर्याप्त समृद्ध है। स्थिविरवादी बौद्ध सम्प्रदाय का सम्पूर्ण साहित्य पालि मे लिखा गया है। सुत्तपिटक, विनयपिटक और अभिधम्मपिटक के अतिरिक्त अनुपिटक साहित्य भी बडी मात्रा मे लिखा गया है। भारत के अतिरिक्त एशिया के कई देशो मे पालि वहा के साहित्य की भाषा रही है। बीसवी सदी तक मे इसमे साहित्य लिखा जा रहा है। अत. प्राचीन भारतीय

---

[1] द्रष्टव्य, पालि साहित्य का इतिहास, डा० भरतसिंह उपाध्याय, पृष्ठ ८

भाषाओ के समझने के लिए पालि का ज्ञान आवश्यक है। भारतीय साहित्य मे पालि भाषा एव साहित्य का स्वतन्त्र अस्तित्व है।

जैनागमों की भाषा

आर्ष प्राकृत के अन्तर्गत पालि के अतिरिक्त अर्धमागधी और शौरसेनी प्राकृत भी आती है। भगवान् महावीर ने अर्धमागधी मे उपदेश दिये थे।[1] किन्तु उस समय अर्धमागधी और आज के उपलब्ध साहित्य की अर्धमागधी में स्पष्ट अन्तर है, जो स्थान और समय के अन्तराल का प्रभाव है। अत उपलब्ध शौरसेनी साहित्य की भाषा उपलब्ध अर्धमागधी साहित्य की भाषा से लगभग तीन सौ वर्ष प्राचीन है।[2] फिर भी अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से अर्धमागधी एव शौरसेनी के क्रम को रखना ही ठीक है।

(ख) अर्धमागधी :

जैन आगमो की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है। इसे 'ऋषिभाषता' तथा आर्ष भाषा भी माना गया है,[3] जो इसकी प्राचीनता का द्योतक है। वैयाकरणो ने अर्धमागधी की स्वतन्त्र उत्पत्ति बतलाते हुए उसके लिए व्याकरण के नियमो की आवश्यकता नही बतलायी। अत इस आर्षभाषा के अपने स्वतन्त्र नियम हैं। जिस प्रकार बौद्धो ने मागधी भाषा को सब भाषाओ का मूल माना है[4] वैसे ही जैनो ने अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणो ने आर्षभाषा को मूलभाषा स्वीकार किया है, जिससे अन्य भाषाओ और बोलियो का उद्गम हुआ है।[5]

जैन आगामो की भाषा का नाम अर्धमागधी क्यो पडा यह इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है। कुछ लोगो का मत है कि इसमे अर्धांश मागधी भाषा है इसलिए इसे अर्धमागधी कहा गया है, किन्तु अर्धमागधी का यह अर्थ नही है। प्राचीन आचार्यों ने मगध के अर्धांश भाग मे बोली जानेवाली भाषा को अर्धमागधी कहा है। सातवी सदी के निशीथचूर्णिकार श्री जिनदासगणि ने अपना यही मत प्रगट किया है।[6] नवागंटीकाकार अभयदेव ने इसमे कुछ लक्षण मागधी और

---

[1] 'भगव च ण अद्धमाहीए भासाए धम्ममाइक्खइ, समवायागसूत्र, पत्र ६०

[2] प्रा० सा० ई०, शास्त्री, पृष्ठ २२

[3] 'आसिमवयणो सिद्ध देवाण अद्धभागहा वाणी'-काव्यालकार २. १२ की व्याख्या।

[4] विभगअट्ठकथा (३८७ इत्यादि)

[5] प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा० जगदीशचन्द्र जैन पृष्ठ १८

[6] 'मगहद्धविसय भासा निबद्ध अद्धमागह'— निशीथचूर्णीकार

कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाने के कारण इसे अर्धमागधी कहा है।[1] प्राकृत वैयाकरणो में मार्कण्डेय ने शौरसेनी के पास होने से मागधी को ही अर्धमागधी कहा है।[2] डॉ॰ जैन के अनुसार यही लक्षण ठीक प्रतीत होता है, क्योकि यह भाषा शुद्ध मागधी नही थी। पश्चिम मे शौरसेनी और पूर्व मे मागधी के बीच के क्षेत्र मे यह बोली जाती थी, इसलिए इसे अर्धमागधी कहा गया है।[3]

अर्धमागधी की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर इस का मूल उत्पत्ति स्थान पश्चिम मगध और सूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या है। फिर भी इसका महाराष्ट्री प्राकृत से अधिक सादृश्य है जो जैन सघ का दक्षिण मे प्रवास होने का प्रभाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त आर्येतर भाषाओं का प्रभाव भी इस पर पडा है। अर्धमागधी भाषा की उत्पत्ति का समय कुछ विद्वान् ईसा की दूसरी शताब्दी मानते हैं।[4] यह भ्रम नाटको मे प्रयुक्त अर्धमागधी और जैन सूत्रो की अर्धमागधी को एक समझ लेने के कारण हुआ है, जबकि दोनो मे अन्तर है। अत जैनागमो की भाषा अर्धमागधी का समय ई. पू चौथी शताब्दी स्वीकार किया जा सकता है। क्योकि तब तक जैनागमो की भाषा में एकरूपता आ चुकी थी। डॉ॰ जैकोबी ने भी यही मत व्यक्त किया है।

अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी की विशेपताओ से मिलकर हुआ है। यद्यपि इसमे मागधी की पूरी विशेषताएँ नही पायी जाती, फिर भी कुछ तो प्रभाव पडा ही है। उसी प्रकार अकारान्त शब्दो मे प्रथमा विभक्ति एव एकवचन मे ए के साथ ओ और क के स्थान पर ग का पाया जाना शौरसेनी का प्रभाव कहा जा सकता है। किन्तु यह जैनसूत्रो की शौरसेनी का प्रभाव है, न कि नाटको मे प्रयुक्त शौरसेनी का। अत इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पालि मे अनेक बोलियो का समिश्रण हुआ है उसी प्रकार भगवान् महावीर द्वारा अर्धमागधी मे उनके प्रचार क्षेत्र की भाषाओ का समिश्रण होना भी स्वाभाविक है। अर्धमागधी की कतिपय विशेषताएँ इस प्रकार हैं।

१ दो स्वरों के मध्यवर्ती असयुक्त क् के स्थान मे सर्वत्र ग और अनेक स्थलो मे त् एव य् पाये जाते हैं। यथा—

सावग=श्रावक, आराहत=आराधक, लोय=लोक

---

[1] भगवती ५.४

[2] 'शौरसेन्याऽदूरत्वादियमेवार्धमागधी'—प्राकृत सर्वस्व १२.३८

[3] प्रा॰ सा॰ ई॰—जैन, पृष्ठ २०

[4] डा॰ भाण्डारकर एवं डा॰ चटर्जी आदि

२. ग् प्रायः स्थित रहता है। कही-कही त् और य् भी पाये जाते हैं। यथा—
आगम=आगम, भगव=भगवान्, अतित=अतिग, सायर=सागर

३ च् और ज् के स्थान पर त् और य् का परिवर्तन। यथा—
कयाती=कदाचित् वायणा=वाचना, पूता=पूजा

४. दो स्वरो का मध्यवर्ती त् प्राय बना रहता है। कही-कही य् होता है। यथा—
नमसति=नमस्यति, पज्जुवासति=पर्यु यास्ते, आगति=आकृति, करयल=करतल

५ द् यथावत् रहता है। कही-कही त् मे परिवर्तन। यथा—
पदिसो=प्रदिशः, जता=यदा, मुसावात=मृषावाद

६. प् के स्थान पर व् होता है। यथा—
पावग=पापक, उवणीय=उपनीत

७. शब्द के आदि, मध्य और सयोग मे सर्वत्र ण् की तरह न् भी स्थित रहता है। यथा—
नई=नदी, नायपुत्र=ज्ञातपुत्र

८. यथा और यावत् शब्द के य् का लोप और ज् दोनो ही पाये जाते हैं। यथा—
अहक्खाय=यथाख्यात, जहा=यथा

९ गृह शब्द के स्थान पर गह, घर, हर और गिह आदेश होते हैं।

१०. अकारान्त पुलिंग शब्दो के प्रथमा एकवचन मे प्राय सर्वत्र ए और क्वचित् ओ प्रत्यय होता है। सप्तमी एकवचन मे स्सि प्रत्यय होता है।

११. धातुओ के भूतकाल के बहुवचन मे इसु प्रत्यय जोडा गया है। यथा—
गच्छिसु, पुच्छिसु आदि।

(ग) शौरसेनी

विद्वानो ने प्राकृतो मे अर्धमागधी और शौरसेनी इन दो प्राकृतो को प्राचीन माना है। एक भाषा का प्रचार काशी के पूर्व मे था और दूसरी का काशी के पश्चिम मे। शौरसेनी का उल्लेख भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में किया है। अशोक

के अभिलेखों में शौरसेनी भाषा के प्राचीनतम रूप प्राप्त होते हैं। प्राचीन जैन आचार्यों ने षडखडागम आदि ग्रन्थो की रचना इसी भाषा मे की थी। बाद मे दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थो की यह मूल भाषा बन गयी, जिसे डा. पिशल ने जैन शौरसेनी नाम दिया है। क्योकि नाटको मे प्रयुक्त शौरसेनी उससे कुछ भिन्न है।

शौरसेनी शूरसेन (ब्रजमण्डल, मथुरा के आसपास का प्रदेश) की भाषा थी। इसका प्रचार मध्यप्रदेश मे हुआ था। शिलालेखो की प्राप्ति के अनुसार यह कहा जा सकता है कि पश्चिम से पूर्व की ओर इसका विस्तार हुआ था। मौर्यकाल मे जैन सघ के प्रवास के कारण इसका प्रचार दक्षिण भारत मे भी हुआ था। अर्ध-मागधी की अपेक्षा शौरसेनी का साहित्य मे अधिक प्रयोग हुआ है तथा इसमे लौकिक सस्कृत के समान कृत्रिम रूपो की अधिकता पायी जाती है। शौरसेनी की कतिपय विशेषातएँ इस प्रकार हैं।

१. ऋ का परिवर्तन अ, इ, ओ और उ मे पाया जाता है। यथा—
   सम्माइट्ठि=सम्यग्दृष्टि, कट्टु=कृत्वा, मोस=मृषा, पुढवि=पृथ्वी

२. त के स्थान पर द और थ के स्थान पर ध हुआ है। यथा—
   विगदरागो=विगतरागो, सजुदो=सयुत, कध=कथम्,
   अजधा=अयथा आदि

३. त का य और यथावत रूप भी मिलते हैं। यथा—
   सव्वगय=सर्वगतम्, भणिया=भणिता, वीयराय=वीतराग,
   अक्खातीदो=अक्षातीत. आदि

४ क् के स्थान पर ग का परिवर्तन। यथा—
   सग=स्वक, एगतेण=एकान्तेन

५ मध्यवर्ती क, ग, च, ज, त, द और प का विकल्प से लोप। यथा—
   लोयप्पदीवयरा=लोकप्रदीपकरा, वयणेहिं=वचनै, सयल=सकलम्,
   गइ=गति

६. यश्रुति एव वश्रुति का प्रयोग भी मिलता है। यथा—
   तिथ्ययरो=तीर्थङ्कर, पयत्थ=पदार्थः, वालुवा=वालुका, वहुव=वहुकं

७. जैन शौरसेनी मे प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे ओ, सप्तमी के एकवचन में म्मि और म्हि विभक्ति के चिन्ह पाये जाते हैं। षष्ठी और चतुर्थी के

बहुवचन में सि प्रत्यय जुड़ता है। पंचमी मे आदो, आदु प्रत्यय पाये जाते हैं। यथा—

दव्वसहावो=द्रव्यस्वभावः, एगम्हि=एकस्मिन्, जोगम्मि=योगे, तेसि=तेभ्य, सव्वेसि=सर्वेषाम् णाणादो=ज्ञानात् णियमा=नियमात्

८. धातु रूपो मे भी कई परिवर्तन होते हैं। यथा—

कृ=कुणेदि, कुणइ, करेइ।

९. क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर त्ता प्रत्यय एव अन्य प्रत्यय भी मिलते हैं। यथा—

जाणित्ता=ज्ञात्वा, किच्चा=कृत्वा, भविय=भूत्वा, गमिऊण=गत्वा, कट्टु=कृत्वा, छड्डिय=त्यक्त्वा आदि।

२. शिलालेखी प्राकृत :

आर्ष प्राकृत के बाद प्रथम युग की प्राकृत में शिलालेखो मे प्रयुक्त प्राकृत भाषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह लिखित रूप मे सबसे पुराना साहित्य है। शिलालेखी प्राकृत के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों मे सुरक्षित हैं। यद्यपि उनके बाद अन्य शिलालेख भी प्राकृत में लिखे गये हैं। शिलालेखी प्राकृत के सम्बन्ध मे विद्वानो ने विस्तृत प्रकाश डाला है।[1] संक्षिप्त जानकारी इस प्रकार है—

अशोक के लगभग ३० शिलालेख हैं। इनमे केवल ई० पू० तीसरी शताब्दी की प्राकृत भाषा का रूप ही सुरक्षित नहीं है, अपितु तत्कालीन भाषा के प्रादेशिक भेद भी इनमें प्राप्त होते हैं, जो मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के विकासक्रम को समझने में सहायक हैं। प्रमुख रूप से अशोक के शिलालेखो मे चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं—(१) पश्चिमोत्तरीय प्राकृत (२) पश्चिमी या दक्षिणी-पश्चिमी प्राकृत (३) मध्यपूर्वी प्राकृत और (४) पूर्वी प्राकृत। यद्यपि ये शिलालेख एक ही शैली में लिखे गये हैं, फिर भी उनकी भाषा मे पर्याप्त अन्तर है। मूलत इन शिलालेखो में पैशाची, मागधी और शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। पश्चिमोत्तरी शिलालेख पैशाची का स्वरूप उपस्थित करते हैं, पूर्वी शिलालेख मागधी का और दक्षिण-पश्चिमी शिलालेख शौरसेनी प्राकृत का।

शिलालेखी प्राकृत का काल ई० पू० ३०० से ४०० ईस्वी तक है। इन सात सौ वर्षों में लगभग दो हजार शिलालेख प्राकृत में लिखे गये हैं। अशोक के

---

[1] डा. सुकुमार सेन, 'पालि-प्राकृत एव अपभ्रंश भाषाओं का व्याकरण'

बाद खारवेल का हाथीगुफा शिलालेख उदयगिरी तथा खण्डगिरी के शिलालेख एवं पश्चिमी भारत के आन्ध्र राजाओ के प्राकृत शिलालेख साहित्यिक दृष्टि से महत्त्व-पूर्ण हैं। प्राकृत का विकसित रूप इन शिलालेखो मे पाया जाता है। नाटको की प्राकृत के रूप भी इनमे उपलब्ध हैं।[1]

३. निया प्राकृत :

निया प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) से प्राप्त लेखो की भाषा को 'निया प्राकृत' कहा गया है। सर आरेलस्टेन (Sir Au el stein) ने वि० स० १९५८ से वि० स० १९७१ तक इनकी खोज की थी। इनकी भाषा को पश्चिमोत्तर प्रदेश (पेशावर के आस-पास) की माना गया है, जिसका सम्बन्ध खरोष्ठी धम्मपद और अशोक के खरोष्ठी शिलालेखो से है। भाषाविज्ञान की दृष्टि से दरदी वर्ग की तोखारी भाषा के साथ निया प्राकृत का निकट सम्बन्ध है। डा० सुकुमार सेन ने इनको भाषाओ का विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है।[2]

४ प्राकृत धम्मपद की प्राकृत भाषा :

पालि धम्मपद की तरह प्राकृत मे लिखा गया एक दूसरा धम्मपद भी प्राप्त होता है। बी० एम० बरुआ और एम० मित्रा ने १९२१ मे इसे कलकत्ता से प्रकाशित किया था। यह खरोष्ठी लिपि मे लिखा गया था। लिपि के आधार पर इसका समय ईसा की दूसरी शताब्दी माना जाता है। इस धम्मपद की भाषा पश्चिमोत्तर प्रदेश की बोलियो से मिलती है। इसमे १२ परिच्छेद हैं, जिनमे २३२ गाथाओ मे बुद्ध के उपदेशो का सग्रह है। प्रथम युग की प्राकृत के स्वरूप का प्रभाव इस कृति की भाषा मे भी खोजा जा सकता है।

५. अश्वघोष के नाटकों की भाषा :

प्रथम युग की प्राकृत के विकास की दृष्टि से नाटको की प्राकृत का अध्ययन करना आवश्यक है। उनमे अश्वघोष के नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत अपनी निजी विशेषता रखती है। लुडर्स के अनुसार अश्वघोष के नाटको मे दुष्ट लोग मागधी, गणिका और विदूषक शौरसेनी मे तथा तापस अर्धमागधी मे बोलते हैं। इन नाटको मे प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ अशोक की शिलालेखी प्राकृत से मिलती हैं। इन प्राकृतों के अध्ययन से इतना स्पष्ट होता है कि जैन सूत्रो मे जिस अर्धमागधी

---

[1] शास्त्री, प्रा० सा०, इ०, पृ० ५९

[2] 'ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ मिडिल इण्डो आर्यन'—डा. सेन

व शौरसेनी का प्रयोग हुआ है, उससे इनमे प्रयुक्त अर्धमागधी व शौरसेनी भिन्न है, जो समय व देशगत विशेषताओ का प्रभाव कहा जा सकता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रथम युग के लगभग ८०० वर्षों मे प्राकृत भाषा प्रयोग की दृष्टि से विभिन्न रूप धारण कर चुकी थी। यद्यपि बोल-चाल के रूप मे उसका सम्बन्ध जन-मानस से ही था फिर भी वह समाज के सभी वर्गों को अपनी साहित्यिक सेवाओ द्वारा प्रभावित करती रही है। मागधी, शौरसेनी और पैशाची इन तीन प्रमुख वैभाषिक प्रवृत्तियो ने प्राकृत के विकास को आगे बढाया तथा मध्ययुग की साहित्यिक गतिविधियो मे प्राकृत के प्रयोग की वृद्धि की है।

मध्ययुग :

इस युग की काल सीमा ई० २०० से ६०० ई० तक मानी जा सकती है। यह युग प्राकृत साहित्य की समृद्धि का युग है। इसमे प्राकृतो का बहुविध प्रयोग होने लगा था। डा० नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस युग की प्राकृतो को इन पाँच भागो मे विभाजित किया है[1]—

(१) भास और कालिदास के नाटको की प्राकृत

(२) गीतिकाव्य और महाकाव्यो की प्राकृत

(३) परवर्ती जैनकाव्य साहित्य की प्राकृत

(४) प्राकृत वैयाकरणो द्वारा निरूपित और अनुशासित प्राकृतें तथा

(५) वृहत्कथा की पैशाची प्राकृत

वास्तव मे इस युग मे प्रयुक्त प्राकृतो को एक नाम के रूप मे साहित्यिक प्राकृत कहा जा सकता है। साहित्य मे उनके प्रयोग के अनुसार ही भेद-प्रभेदो की गणना की गयी है। सर्वप्रथम भरत मुनि ने प्राकृत भाषा के भेद-प्रभेदो का उल्लेख किया है।[2] तथा उनके प्रयोग और बोलने वाले पात्रो का भी निदेश किया है।[3] किन्तु सस्कृत नाटको मे भरत के विधान का पालन आंशिक रूप से ही हुआ है। शूद्रक के मृच्छकटिक मे अवश्य विभिन्न प्राकृतो का प्रयोग पाया

---

[1] प्रा० सा० इ०, शास्त्री, पृ० १७

[2] भरतनाट्यशास्त्र, १८.३५-३६

[3] वही, १८.३७-४०

जाता है। किन्तु उनमे भी शौरसेनी और मागधी ही प्रधान है। सस्कृत नाटकों मे प्राकृत के प्रयोग होने के दो कारण प्रमुख रहे हैं। प्रथम यह कि जनसामान्य की भाषा मे कथा एव काव्य ग्रन्थो का प्रणयन होने लगा था अत सभव है कि नाटक विधा मे भी कोई नाटक मात्र प्राकृत मे लिखा हो और बाद मे सस्कृत का प्रभाव वढने से उसमे सस्कृत भी सम्मिलित की जाने लगी हो। दूसरी बात यह कि नाटक को जीवन की वास्तविक अनुकृति कहा गया है। अत. उस समय के जिस वर्ग मे जिस भाषा का वोलचाल मे प्रयोग होता रहा होगा वही नाटको मे भी प्रयुक्त हुई। प्राकृत भाषा जनसामान्य और अशिक्षित लोगो की भाषा थी तथा नाटक के दर्शक आदि भी अधिकाश वही होते थे इसलिए सामान्य स्तर के पात्रो से नाटको में प्राकृत बुलवायी जाती थी। तभी विचारो और भावो की सही अनुकृति सभव थी।

मध्ययुगीन प्राकृतो के वहुविध प्रयोग होने के कारण प्राकृत वैयाकरणो ने भी उनके प्रमुख भेद-प्रभेदो का उल्लेख करते हुए तदनुसार ही उनका अनुशासन किया है। चण्डकृत 'प्राकृतलक्षण', वररूचिकृत 'प्राकृतप्रकाश' तथा हेमचन्द्र कृत 'प्राकृत-व्याकरण' मे जिन प्रमुख प्राकृतो का स्वरूप निरूपण किया गया है, उनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

महाराष्ट्री प्राकृत

सामान्य प्राकृत का दूसरा नाम महाराष्ट्री प्राकृत है, ऐसी कई लोगो की धारणा है। किन्तु इसे पूर्ण सत्य नही कहा जा सकता, क्योंकि महाराष्ट्री प्राकृत का विकास भी प्रदेशगत प्रभावो के कारण हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र में महाराष्ट्री प्राकृत का निर्देश नही है। अश्वघोष और भास के नाटको मे भी इसका प्रयोग नही हुआ। प्राकृत वैयाकरणो ने भी आर्ष प्राकृत का निरूपण कर महाराष्ट्री प्राकृत का नाम नही लिया। वररुचि ने शेष महाराष्ट्रीवत् (१२.३२) कहकर महाराष्ट्री प्राकृत के अस्तित्व की सूचना दा है। कालीदाम के नाटको मे सर्वप्रथम इस प्राकृत के प्रयोग दिखायी पडते हैं। महाकवि दण्डी ने महाराष्ट्र मे वोली जाने वाली भाषा को उत्तम प्राकृत कहा है।[1] आगे के आचार्यो ने महाराष्ट्री प्राकृत की श्रेष्ठता के कारण उसे 'प्राकृत' नाम से ही व्यवहृत किया है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि महाराष्ट्री प्राकृत कालिदास के पूर्व प्रतिष्ठित नही थी। उसके बाद वह साहित्य की भाषा वनी तथा विशेषकर काव्य

---

[1] महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्ट प्राकृत विदुः।
सागरः सुक्तिरत्नाना सेतुबन्धादि यन्मयम्॥ (काव्यादर्श १.३४)

रचना मे उसका अधिकतम प्रयोग किया गया। प्रोफेसर जैकोबी महाराष्ट्री प्राकृत का समय ईसा की तीसरी शताब्दी तथा डाक्टर कीथ चौथी शताब्दी स्वीकार करते हैं, जो उसके प्रयोग की दृष्टि से उचित प्रतीत होता है।

इसका 'महाराष्ट्री प्राकृत' नाम किस कारण पडा, इसके मूल मे अन्य प्राकृतो की तरह उसका उत्पत्ति स्थान ही कारण है। यद्यपि डा० हार्नले के अनुसार महाराष्ट्री भाषा महाराष्ट्र देश मे उत्पन्न नही हुई है। किन्तु दडी ने इसे महाराष्ट्र की ही भाषा कहा है और ग्रियर्सन के अनुसार महाराष्ट्री प्राकृत से आधुनिक मराठी भाषा की उत्पत्ति हुई है। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि महाराष्ट्र मे जो प्राचीन प्राकृत प्रचलित थी उसी से बाद मे काव्यीय और नाटकीय महाराष्ट्री प्राकृत का जन्म हुआ है। सभवत यह सस्कृत भाषा की वृद्धि की प्रतिक्रिया का परिणाम है, जिस कारण महाराष्ट्री मे सस्कृत वर्णों का अधिकतम लोप होने की प्रवृत्ति पायी जाती है। इससे महाराष्ट्री प्राकृत काव्य के लिए अनुकूल बन सकी है।

महाराष्ट्री प्राकृत का सबसे अधिक प्रयोग काव्य मे किया गया है। सेतुबन्ध, गाथासत्तसई, गउडवहो कुमारपालचरित आदि ग्रन्थो मे इसका निदर्शन पाया जाता है। इस भाषा के लालित्य एव मधुरता के कारण नाटको मे अन्य प्राकृतो को बोलने वाले पात्र भी गीत आदि में इसका प्रयोग करने लगे थे। आगे चलकर अवन्ती और वाल्हीकी लोकभाषाएँ भी इसी के अन्तर्गत समाहित हो गयी थी। इस प्रकार महाराष्ट्री प्राकृत के प्रयोग द्वारा लोकभाषाओ को साहित्य की भाषा बनाने का सफल प्रयत्न किया गया है।

काव्य ग्रन्थो की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत के अतिरिक्त एक प्राकृत वह भी है, जिनमे जैन कथानको से सम्बद्ध काव्य ग्रन्थ लिखे गये हैं। पउमचरिय, उपदेशमाला, समराइच्चकहा आदि ग्रन्थो की भाषा और महाराष्ट्री प्राकृत मे कुछ पार्थक्य होने के कारण विद्वानो ने जैन काव्य ग्रन्थो की भाषा को 'जैन महाराष्ट्री' नाम दिया है। सभवत प्रथम युग की जैन महाराष्ट्री ही क्रमशः परिवर्तित होकर मध्ययुग की व्यजन-लोप-बहुल महाराष्ट्री प्राकृत के रूप मे विकसित हुई है।[1]

मागधी :

अन्य प्राकृतों की तरह मागधी मे स्वतन्त्र रचनाएँ नही पाई जाती। केवल सस्कृत नाटको और शिलालेखों में इसके प्रयोग देखने मे आते हैं। प्राय सभी

---

[1] पाइअसद्दमहण्णवो—भूमिका, पृष्ठ ४३

प्राकृत वैयाकरणो ने मागधी के लक्षण और उदाहरणो का उल्लेख किया है। किन्तु उनमे मतभेद भी है कि कौन लोग इस प्राकृत का अधिक प्रयोग करते थे। सस्कृत नाटको मे सामान्य स्तर के पात्र इसका व्यवहार करते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में कोई निश्चित नियम है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मागधी कोई एक निश्चित भाषा नही थी, अपितु कई बोलियो का उसमे समिश्रण था, जिनमे ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स के स्थान पर श तथा अकारान्त शब्दो मे ए का प्रयोग अधिक होता था।[1]

मागधी किस प्रदेश की भाषा थी, यह निश्चित करना कठिन है। क्योकि मगध जनपद के बाहर कई जगह उसका प्रयोग होता था तथा उनमे भी एकरूपता प्राप्त नही होती। लेकिन इमे मगध देश की ही भाषा मानना ठीक है, क्योकि मागधी भाषा को राजभाषा होने का सौभाग्य प्राप्त था। और शायद इसी कारण राजाज्ञा आदि के रूप मे इसका दूर-दूर तक प्रचार हो सका था। विभिन्न प्रदेशो की बोलियो के सम्पर्क मे आने से इसके पालि, अर्धमागधी आदि कई रूप प्रचलित हुए। वररुचि एव मार्कण्डेय ने मागधी की प्रकृति (मूल) होने का श्रेय शौरसेनी को दिया है।[2] किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि मागधी शौरसेनी से जन्मी है। जिस प्रकार शौरसेनी मध्यप्रदेश मे प्रचलित वैदिक युग की कथ्यभाषा से उत्पन्न हुई है उसी प्रकार मागधी ने भी उस कथ्य भाषा से जन्म ग्रहण किया है, जो वैदिककाल मे मगध देश मे प्रचलित थी।

मागधी के भी दो रूप प्राप्त होते हैं—(१) प्रथम युग की मागधी, जो अशोक के शिलालेखो तथा अश्वघोष के नाटको मे पायी जाती है तथा (२) मध्ययुग की मागधी, जो भास के और परवर्तीकाल के नाटको मे तथा प्राकृत के वैयाकरणो द्वारा प्रयुक्त हुई है। इन प्रमुख भेदो के अतिरिक्त मागधी के अन्तर्गत अन्य लोक-भाषाओं का भी समावेश था। शाकारी, चाडाली और शाबरी ये तीन भाषाएँ मागधी के ही प्रकारान्तर से रूपान्तर हैं।

पैशाची :

प्रथम युग की पैशाची भाषा का कोई निदर्शन प्राचीन साहित्य मे नही मिलता। गुणाढ्य की बृहत्कथा पैशाची भाषा मे ईसा पूर्व मे लिखी गयी थी, जो

---

[1] प्राकृत भाषाओ का व्याकरण, पृष्ठ ४८

[2] 'प्रकृति॰ सौरसेनी', प्राकृतप्रकाश—११.२
'मागधी सौरसेनीत.', प्राकृतसर्वस्व, पृष्ठ १०१

उपलब्ध नही है। इस समय हमे जो व्याकरण, नाटक व काव्यो मे पैशाची के उद्धरण मिलते हैं वे मध्ययुग के हैं। अत इस पैशाची का समय ईसा की दूसरी शताब्दी से ५वी शताब्दी तक रखा जा सकता है। फिर भी अन्य प्राकृतो मे इसे प्राचीन प्राकृत ही माना जाता है। इसकी गणना पालि, अर्धमागधी और शिलालेखो की प्राकृत के साथ की जाती है।

पैशाची किस प्रदेश की भाषा थी यह उसके बोलने वालो पर निर्भर करता है। वागभट[1] तथा केशवमिश्र[2] ने भूत और पिशाच प्रभृति पात्रो के लिए तथा 'षड्भाषाचन्द्रिका' के लेखक ने[3] राक्षस, पिशाच और नीच पात्रो के लिए पैशाची बोलने का विनियोग बतलाया है तथा इसे पिशाच देशो की भाषा कहा है।

पिशाच देशो की सख्या मे मतभेद हैं। अत यह कहा जा सकता है कि पैशाची भाषा किसी प्रदेश विशेष की नही थी बल्कि भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे रहने वाली किसी जाति विशेष की थी, जो भ्रमणशील होने से इस भाषा का विभिन्न प्रदेशो मे प्रचार करती रही। इसीलिए मार्कण्डेय ने इसे एक शूरसेन और पाचाल की भाषा कहा है। विद्वानो का मत है कि पैशाची पहले एक देश मे उत्पन्न हुई होगी और बाद मे शूरसेन तथा पजाब तक फैल गयी होगी। सर ग्रियर्सन भी इसे उत्तर पश्चिम पजाब अथवा अफगानिस्तान की भाषा मानते हैं।

वररुचि ने शौरसेनी प्राकृत को ही पैशाची भाषा का मूल कहा है। ध्वनि-तत्त्व की दृष्टि से सस्कृत, पालि और पल्लववश दानपत्रो की भाषा से पैशाची भाषा मिलती-जुलती है। किन्तु इसका यह अर्थ नही कि इसकी उत्पत्ति किसी विकसित भाषा से हुई है। वैदिक युग मे भारत के उत्तर पश्चिम प्रान्त या अफगानिस्तान के पूर्व प्रान्तवर्ती प्रदेश में प्रचलित कथ्य भाषा से ही पैशाची की उत्पत्ति मानना चाहिए।

हेमचन्द्र, त्रिविक्रम और लक्ष्मीधर प्राकृत वैयाकरणों ने पैशाची के साथ चूलिका-पैशाची का भी विवेचन किया है। कुमारपालचरित, काव्यानुशासन और हम्मीरमद मर्दन नामक नाटक मे चूलिका पैशाची के कुछ प्रयोग देखने को मिलते हैं। पैशाची से इसमे बहुत थोडा ही अन्तर है। अत. इसे पैशाची के अन्तर्गत ही विद्वानो ने स्वीकार किया है।

---

[1] वाग्भटालकार २.३

[2] अलकार शेखर, पृष्ठ ५

[3] 'रक्ष पिशाचनी चेषु पैशाचीद्वितिय भवेत्' ॥३५॥ षड्भाषाचन्द्रिका, पृष्ठ ३

इस प्रकार मध्ययुग मे जिन प्राकृतों का साहित्य मे अधिक प्रयोग हुआ है उनमे अर्धमागधी, शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री और पैशाची प्रमुख हैं। इन प्राकृतो ने साहित्य मे प्रवेश कर जनसामान्य के लिए मनोरजन और ज्ञानवर्द्धन के साधन ही प्रदान नही किये अपितु सस्कृत साहित्य को भी प्रभावित किया है। लोकसाहित्य शिष्ट-साहित्य को कैसे गति प्रदान करता है, यह मध्ययुगीन प्राकृतो के अध्ययन से स्पष्ट हो सकता है। प्राकृत भाषाओ के इस बढते हुए प्रभाव के कारण एक बात अवश्य हुई कि सस्कृत के लेखको ने जिस प्राकृत का प्रयोग किया उसमे कृत्रिमता आ गयी। सस्कृत नाटको की प्राकृत इस बात का प्रमाण है। सस्कृत के प्रभाव से प्राकृत मे एकरूपता लाने का भी प्रयत्न किया गया, जो प्राकृत के विकास के लिए लाभकारी नही कहा जा सकता। किन्तु इस प्रवृत्ति के कारण लोकभाषा को अभिव्यक्ति का दूसरा माध्यम चुनना पडा, जिसका परिणाम प्राकृतो से भिन्न अपभ्र श आदि भाषाओ का जन्म कहा जा सकता है।

आगम साहित्य :

जैन परम्परा मे तीर्थङ्करो के द्वारा समय-समय पर आत्मकल्याण के लिए उपदेश दिये जाते रहे हैं। यद्यपि सभी तीर्थङ्करो के उपदेशो मे साम्य होता है और इसी दृष्टि से उनके उपदेशो अथवा जैन आगमो को अनादि-अनन्त कहा गया है। किन्तु अन्तिम तीर्थङ्कर के उपदेशो को ही आगम के रूप मे स्वीकार कर जैन-सघ की शासन व्यवस्था चलती है। इस दृष्टि से भगवान् महावीर ने जो उपदेश दिये थे उन्ही को आगमो के रूप मे आज स्वीकार किया जाता है। महावीर के उपदेशो को गणधरो ने सूत्रबद्ध किया था। अत अर्थरूप शास्त्र के कर्त्ता भगवान् महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्त्ता गणधर हैं। अत आगमो की रचना का प्रारम्भ तो महावीर के काल से ही माना जा सकता है।[1]

जैन परम्परा मे महावीर द्वारा उपदिष्ट शास्त्रो के लिये आगम शब्द अधिक प्रचलित हो गया है, जिसे प्राचीन काल मे श्रुत अथवा सम्यकश्रुत कहा जाता था। आप्तवचन प्रवचन, जिनवचन, उपदेश आदि अनेक शब्द आगमो के लिये प्रयुक्त होते थे। किन्तु आगे चलकर आगम शब्द ही अधिक प्रचारित हुआ। भगवान् महावीर ने अपने उपदेश अर्धमागधी भाषा मे दिये थे। उस समय यह जनसामान्य की भाषा थी। महावीर से गणधरो ने जैसा सुना वैसा ही अपने

---

[1] जैनसाहित्य का वृहत् इतिहास, भाग १, प. दलसुख मालवणिया की प्रस्तावना, पृष्ठ ५२

शिष्यो को सुना दिया। इस प्रकार गुरुमुख से सुने हुए उपदेशो को आगे चलकर आगम के रूप मे निबद्ध किया गया। इस श्रुतपरम्परा के कारण स्पष्ट है कि वर्तमान मे जो आगम उपलब्ध हैं वे केवल महावीर के ही शब्द नही हैं, बल्कि उनमे गणधरो और उनके शिष्यो का प्रस्तुतिकरण भी सम्मिलित है। विभिन्न आगमो की विषय वस्तु के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि उनके मूल रूप मे बहुत कम परिवर्तन हुआ है।

भगवान् महावीर के उपदेशो को आगम ग्रन्थो के रूप मे किस प्रकार सकलित किया गया इस सम्बन्ध मे दिगम्बर एव श्वेताम्बर परम्परा मे दो भिन्न विचार-धाराएँ प्रचलित हैं। दिगम्बर परम्परा के अनुसार समस्त श्रुतज्ञान के अतिम उत्तराधिकारी श्रुत केवली भद्रबाहु थे, जो भगवान् महावीर के निर्वाण के दो सौ वर्ष बाद चन्द्रगुप्त के राज्यकाल मे थे। उस समय भीषण अकाल पडने के कारण मुनियो का जैनसघ अव्यवस्थित हो गया। इससे भगवान् महावीर द्वारा कथित आगमो का ज्ञान क्रमश क्षीण हो गया। वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् बारहवें अग दृष्टिवाद का कुछ अश ही शेष रह गया। अत धरसेन आचार्य के तत्त्वावधान मे सत्कर्म प्राभृत (षटखण्डागम) और गुणधर आचार्य के तत्त्वावधान मे कसायपाहुड नामक आगम सूत्र ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थो की भाषा शौरसेनी है। आगे चलकर अन्य दिगम्बर ग्रन्थ इसी भाषा मे लिखे गये हैं।

दूसरी परम्परा श्वेताम्बर सम्प्रदाय की है। उसके अनुसार भगवान् महावीर के उपदेशो को समय-समय पर विकृतियो से बचाने के लिये जैन मुनियो ने अनेक वाचनाए की हैं। भगवान् महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष बाद पाटलिपुत्र मे स्थूलभद्र आचार्य की स्मृति के आधार पर ग्यारह आगमो का सकलन किया गया, किन्तु उपस्थित आचार्यों को स्मरण न होने से बारहवें अग दृष्टिवाद को सकलित नही किया जा सका। इस प्रथम वाचना मे व्यवस्थित आगम साहित्य जब पुन छिन्न-भिन्न होने लगा तब वीर निर्वाण के ८२७-८४० वर्ष के मध्य मे आचार्य स्कदिल ने मथुरा में मुनिसघ का सम्मेलन बुलाया, जिसमे उन्ही ग्यारह आगमो को पुन व्यवस्थित किया गया। इसके लगभग १५० वर्ष बाद अर्थात वीर निर्वाण ९८० वर्ष मे वलभीनगर में देवर्धिगणी की अध्यक्षता मे एक मुनि सम्मेलन पुन बुलाया गया। इस सम्मेलन मे विभिन्न वाचनाओ का समन्वय करके आगमों को लिपिबद्ध किया गया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय द्वारा मान्य वर्तमान आगम इसी सम्मेलन के प्रयत्नो का परिणाम है। इस समय तक ग्यारह प्रमुख आगमो के अतिरिक्त आगम साहित्य के अन्य ग्रन्थो का भी सकलन कर लिया गया था। कुल मिलाकर ४५ आगम ग्रन्थ मान्य किये गये थे। इन सब ग्रन्थो

की भाषा अर्धमागधी है। इस प्रकार दोनों परम्पराओ के आधार पर जैन आगमो की भाषा शौरसेनी एव अर्धमागधी कही जाती है। इन दोनों भाषाओ का आगम साहित्य आज उपलब्ध है।

जैन आगमो का सकलन भगवान् महावीर के निर्वाण के कई सौ वर्षों बाद हुआ है तथा लगभग १००० वर्ष के बाद उन्हे लिपिबद्ध किया गया है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि आगमो का रचनाकाल ईसा की चौथी या पाचवी शताब्दी है। यह उनका लेखनकाल है। उनकी रचना का प्रारम्भ तो भगवान् महावीर के काल मे ही माना जा सकता है। यद्यपि उनमे समय-समय पर अनेक प्रक्षेपक अवश्य जुडते रहे हैं।

अर्धमागधी आगम-साहित्य :

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अन्तर्गत ४५ आगम ग्रन्थ माने जाते हैं। ११ अंग, १२ उपाग, ६ छेदसूत्र, ४ मूलसूत्र, १० प्रकीर्णक और २ चूलिका। ये ग्रन्थ गद्य और पद्य दोनो मे लिखे गये हैं। इनमे दार्शनिक और सैद्धान्तिक विषयो का विवेचन सूत्रशैली मे किया गया है। इन आगम ग्रन्थो के नाम इस प्रकार है—

अंगग्रन्थ—१. आयार (आचार), २ सूयगड (सूत्रकृत), ३ ठाण (स्थान); ४. समवाय, ५ वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति), ६ नायाधम्मकहाओ (ज्ञातधर्मकथा), ७. उवासगदसाओ (उपासकदशा) ८ अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा), ९ अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा), १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११ विवागसुय (विपाकश्रुतम्) तथा (१२. दृष्टिवाद, जो विच्छिन्न हुआ है)।

उपांग-ग्रन्थ—१३ उववाइयं (औपपातिक), १४ रायपसेणइज्ज (राजप्रसेनजित्कं), १५ जीवाजीवाभिगम, १६ पण्णवणा (प्रज्ञापना), १७ सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), १८ जंबुद्दीवपण्णत्ति, १९ चंदपण्णत्ति, २० निरयावलियाओ (निरयावलिका), २१. कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिका), २२. पुप्फियाओ (पुष्पिका:), २३. पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला), २४ वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)।

छेदसूत्र—२५. आयारदसा (आचारदशा), २६. कप्प (कल्प), २७. ववहार (व्यवहार), २८ निसीह (निशीथ), २९ महानिसीह (महानिशीथ), ३०. जीयकप्प (जीतकल्प)।

मूलसूत्र—३१ उत्तरज्झाया (उत्तराध्याया), ३२ दसवेआलिय (दशवैकालिक), ३३. आवस्सय (आवश्यक), ३४. पिण्डनिज्जुत्ति (पिण्डनिर्युक्ति)।

चूलिकासूत्र—३५ नन्दी, ३६ अणुयोगदारा (अनुयोगद्वाराणि)।

प्रकीर्णक—३७. चउसरण (चतुशरण), ३८. आउर पच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान), ३९. भतपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४० सथर, ४१ तडुलवेयालिय तडुलवैचारिक), ४२ चदवेज्झय (चन्द्रवैध्यक), ४३ देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), ४४ गणिविज्जा, ४५ महापच्चक्खाण (महाप्रत्यख्यान) तथा ४६ वीरत्थय (वीरस्तव)।

ये प्रकीर्णक ग्रन्थ केवल श्वे० मूर्तिपूजक सम्प्रदाय को मान्य हैं। तथा छेदसूत्र और मूलसूत्रो मे से २९ एव ३० तथा ३३ एव ३४ न के ग्रन्थ स्थानकवासी और तेरापन्थ सम्प्रदाय को मान्य नही हैं। शेष आगम ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा मे स्वीकृत है।[1] इन आगम ग्रन्थो के अनेक सस्करण वर्तमान मे प्रकाशित हो चुके हैं।

आगम साहित्य के अग और उपाग ग्रन्थो मे जैनदर्शन का सैद्धान्तिक विवेचन है। साथ ही अनेक सास्कृतिक तथ्यो का प्रतिपादन भी इनमे हुआ है। छेदसूत्रो मे जैन साधु और साध्वियो की प्रायश्चित विधि का वर्णन है। मूलसूत्रो मे साधुजीवन के मूलभूत नियमो का विवेचन किया गया है। प्रकीर्णक ग्रन्थ मे अनेक मुनियों की रचनाएँ हैं, जिनमे जीवन-शोधन की विभिन्न प्रक्रियाओ का वर्णन है। चूलिका ग्रन्थो मे विपय-वैविध्य प्राप्त होता है।

अर्धमागधी आगम-साहित्य पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य भी लिखा गया है। नियुक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका के नाम से आगम ग्रन्थो के मूल विषय को विस्तार दिया गया है। सूत्र मे निश्चित किया हुआ अर्थ जिसमे निबद्ध हो उसे निर्युक्ति कहा है। निर्युक्तिया प्राय प्राकृत गाथाओ मे निवद्ध मिलती हैं। इनके रचयिता भद्रवाहु माने जाते हैं। भाष्य ग्रन्थ लगभग ६-५ वी शताब्दी मे लिखे गये हैं। इनके लेखक सघदासगणि और जिनभद्र हैं। चूर्णियो की रचना गद्य मे की गयी है। इनकी भाषा सस्कृत-प्राकृत मिश्रित है। इनके रचयिता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। प्राचीन सस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से चूर्णियों का विशेष महत्त्व है। आगम ग्रन्थो की विशद व्याख्या टीका ग्रन्थो द्वारा

---

[1] द्रष्टव्य—वही, पृ. २८

हुई है। इनकी भाषा सस्कृत है। कथाओ मे प्राकृत का भी प्रयोग किया गया है।[1]

इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य और उसका टीका साहित्य जैन धर्म के प्राचीन स्वरूप को स्पष्ट करता है। भाषाशास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से इन ग्रन्थो मे प्राचीन भारतीय भाषाओ के विविध निदर्शन प्राप्त हैं। इनमे सास्कृतिक तथ्यो का समावेश अपना अलग महत्त्व रखता है।

शौरसेनी आगम साहित्य :

अर्धमागधी आगम साहित्य के परिचय मे जिस १२ वें अगग्रन्थ दृष्टिवाद के लुप्त होने का उल्लेख हुआ है, उसी से शौरसेनी आगम साहित्य का सम्बन्ध है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार देश और काल के प्रभाव मे विलुप्त द्वादशाग आगम ग्रन्थ का कुछ अश धरसेन आचार्य को स्मरण था। उन्होने पुष्पदन्त और भूतवलि नामक मेधावी शिष्यो को दृष्टिवाद के स्मरण अश की शिक्षा दी थी। इसी आधार पर इन शिष्यो ने षट्खण्डागम नामक ग्रन्थ की रचना की, जो शौरसेनी आगम साहित्य का मूल ग्रन्थ है। इसको आधार मानकर आगे का दिगम्बर साहित्य लिखा गया है। विषय के साथ-साथ इस ग्रन्थ की भाषा का भी अनुकरण किया गया है।

आचार्य धरसेन के समय के आसपास गुणधर नाम के एक दूसरे आचार्य भी हुए हैं। उन्हे भी द्वादशाग श्रुत का कुछ ज्ञान स्मरण था। अत तदनुसार उन्होने कषायप्राभृत नामक दूसरे आगमग्रन्थ की रचना स्वय की थी। इस प्रकार शौरसेनी आगम साहित्य में ये दो प्रधान ग्रन्थ हैं। आगे चलकर इन पर जो टीकाए आदि लिखी गयी वे स्वय अपने आप मे किसी महाग्रन्थ से कम नही हैं। इनका सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

१ षट्खण्डागमसूत्र—इस आगम ग्रन्थ को सत्कर्मप्राभृत, खण्डसिद्धान्त आदि भी कहा गया है। यह ग्रन्थ छ खण्डो मे विभक्त है—(1) जीवट्ठाण (जीवस्थान) के अन्तर्गत जीव के गुण, धर्म और अनेक अवस्थाओ का वर्णन है। इसमे २३७५ सूत्र हैं और यह १७ अधिकारो मे विभक्त है। 11) खुद्दावन्ध (क्षुद्रकबन्ध) नामक खण्ड मे १३ अधिकार हैं। इसमे कौन जीव वन्धक है और कौन जीव अबन्धक इसका विवेचन मार्गणाओ के आधार पर किया गया है। कर्मसिद्धान्त की दृष्टि से यह वर्णन विशेष महत्त्व का है।

---

[1] प्राकृत साहित्य का इतिहास, डा. जगदीशचन्द्र जैन, पृ. १६३

२. महाबन्ध—इस अंतिम खण्ड मे प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध का विवेचन है। अपनी विशालता के कारण यह महाबन्ध स्वतन्त्र ग्रन्थ ही माना जाता है। इसका अपर नाम महाधवल भी है। इसकी रचना आचार्य भूतबलि ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण मे की है। षट्खण्डागम जैसे विशाल ग्रन्थ के ये सभी भाग वतमान मे सपादित होकर प्रकाशित हो चुके हैं। इन पर लिखी गयी टीकाए भी प्रकाशित हैं।

३ कसायपाहुड (कषायप्राभृत)—इसके रचयिता आचार्य गुणधर हैं, जिनका समय ईसा की पहली शताब्दी माना जाता है। इसमे कुल १६ अधिकार हैं। २३३ गाथा-सूत्रो मे इसकी रचना की गयी है। इस ग्रन्थ मे राग, द्वेष आदि कषायो के विभिन्न रूपो एव उनकी परिणति आदि का विवेचन है।

शौरसेनी आगम के इन ग्रन्थो पर प्राकृतमिश्रित सस्कृत मे महत्त्वपूर्ण टीकाएं लिखी गयी हैं। विशालता और विषय के प्रतिपादन की दृष्टि से ये टीकाएँ स्वतन्त्र ग्रन्थ जैसा महत्त्व रखती हैं। कुछ प्राचीन टीकाए अभी तक अनुपलब्ध हैं। जो टीकाए प्राप्त हैं उनमे धवला और जयधवला टीकाए अतिप्रसिद्ध हैं।

४ धवलाटीका—षट्खण्डागम पर आचार्य वीरसेन (८ वी) ने जो टीका लिखी थी वह धवला के नाम से प्रसिद्ध है। इसकी भाषा प्राकृत एव सस्कृत है, जो प्रौढ और मुहावरेदार है। इसमे न्यायशास्त्र की शैली मे विषय का प्रस्तुतिकरण हुआ है। कर्मसिद्धान्त के विस्तृत विवेचन, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानो के समावेश एव सास्कृतिक तथ्यो की समृद्धि के कारण इस टीका का विशेष महत्त्व है।

५. जयधवलाटीका—यह टीका भी वीरसेन के द्वारा लिखी गयी है, जिसे उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने पूरा किया है। कसायपाहुड पर लिखी गयी यह टीका कर्मसिद्धान्त का गहन एव सूक्ष्म विवेचन करती है।

६. अन्य शौरसेनी आगम साहित्य—उपर्युक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त कर्मसिद्धान्त और ज्ञानमीसासा का प्रतिपादन करने वाले अन्य ग्रन्थ भी शौरसेनी प्राकृत मे लिखे गये हैं। यद्यपि वे जैनाचार्यों की स्वतन्त्र रचनाएं हैं, किन्तु उनका विषय दिग० मूल आगम ग्रन्थों के अनुकूल ही है। ऐसे साहित्य के प्रणेताओ मे आचार्य कुन्दकुन्द, यतिवृषभ, वट्टकेर, शिवार्य एव आचार्य नेमिचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इनके ग्रन्थ जैन सिद्धान्त को बडी गहरायी से प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि ये दार्शनिक

और शास्त्रीय ग्रन्थ हैं, फिर भी उनमे काव्यात्मकता और सास्कृतिक समृद्धि कम नहीं है।[1] आगम साहित्य के कुछ प्रमुख ग्रन्थो का विशेष परिचय इस प्रकार है।

आचारांग सूत्र :

जैन धर्म के द्वादश आगमो मे आचाराग का प्रथम स्थान है। स्थापनाक्रम की दृष्टि से और रचनाक्रम की दृष्टि मे भी। किन्तु अन्य आगम ग्रन्थो के परिप्रेक्ष्य मे आचाराग रचनाक्रम की दृष्टि से प्रथम आगम नही है। क्योकि इसके पहले पूर्व ग्रन्थो की स्थिति मानी जाती है। वैसे निर्युक्तिकार आचाराग मे मोक्ष के उपाय (आचार) का प्रतिपादन होने से उसे द्वादशागी मे प्रथम मानते हैं। इसे अग ग्रन्थो का सार भी कहा गया है।

आचाराग के दो श्रुतस्कन्ध हैं। पहला श्रुतस्कन्ध दूसरे की अपेक्षा अधिक प्राचीन और मौलिक है। उसका नाम 'ब्रह्मचर्याध्ययन' भी है। इसके नौ अध्ययनो को 'नवब्रह्मचर्य' कहा गया है। वैसे आचाराग के दस पर्यायवाची हैं, जिनमे अंग, आचार, आइण्ण, आगर आदि अधिक प्रचलित हैं। यह आचरणीय का प्रतिपादक है, इसलिए आचार तथा अन्तस्तल मे स्थित अहिंसा आदि को व्यक्त करता है इसलिए अग है। अत. इसका आचाराग नाम सार्थक है।

इस प्रमुख आगम के प्रथम श्रुतस्कन्ध मे ये नौ अध्ययन हैं— १ सत्थ-परिण्णा (शस्त्रपरिज्ञा), २ लोगविजय, ३. सीओसणिज्ज (शीतोष्णीय), ४. सम्मत्त (सम्यक्त्व), ५. लोगसार, ६. धुय (धूत), ७ महापरिण्णा, ८. विमोक्ख एव ९. उवहाणसुय (उपधान-श्रुत)। इनमे नामभेद और क्रमभेद दोनो है। किन्तु इससे इनकी विषयवस्तु मे कोई अन्तर नहीं पडता। प्रथम अध्ययन मे सूक्ष्म हिंसा का निषेध है। दूसरे मे बध और मुक्ति को प्रबोध दिया गया है। तीसरे शीतोष्णीय अध्ययन मे सुख-दु ख मे समभाव का प्रतिपादन है। सम्यक्-दृष्टिकोण चतुर्थ अध्ययन का विषय है। लोकसार अध्ययन मे असार का परित्याग और सारभूत रत्नत्रयी की आराधना का उपदेश है। अनासक्ति का पतिपादन धूत अध्ययन का विषय है। मोह से उत्पन्न परीषहों और उपसर्गो को सहन करने का उपदेश महापरिज्ञा अध्ययन मे था, जो इस समय उपलब्ध नही है। विमोक्ष अध्ययन मे सलेखना आदि का वर्णन है।

---

[1] प्राकृत भाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा. शास्त्री

उपधान-श्रुत अध्ययन में भगवान् महावीर द्वारा आचरित आचार का प्रतिपादन है। उपधान शब्द तप के पर्याय के रूप मे जैन धर्म मे प्रचलित है। इस अध्ययन के चार उद्देशक हैं। दीक्षा लेने के बाद महावीर को जो कुछ सहन करना पडा उसका वर्णन प्रथम उद्देशक मे है। अहिंसामय चर्या का सूक्ष्म विवेचन यहा हुआ है। द्वितीय एव तृतीय उद्देशक मे उन विभिन्न स्थानो और परिषहो का वर्णन है, जहा महावीर ने विचरण किया था और कष्टो को सहा था। इसी प्रसग मे लाढ देश का वर्णन है। चतुर्थ उद्देशक मे महावीर की तपश्चर्या एव उनके निर्वाण-प्राप्ति की कथा है। यह सम्पूर्ण विवरण इतना सीधा और सरल है कि प्रतीत होता है मानो कोई महावीर के तपश्चरण का आंखो देखा हाल कह रहा हो। जैन दर्शन में ज्ञान, दर्शन, चरित्र तप एव वीर्य ये पाच प्रकार के आचार वर्णित हैं। इन सबका वर्णन इस प्रथम आगम ग्रन्थ में हुआ है। अत जैन आचार सहिता की यह प्रामाणिक और प्राचीन कृति है।

आचाराग अन्य दृष्टियो से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमे आत्मा, ज्ञान, कर्म निर्वाण आदि दार्शनिक तत्त्वो का भी निरूपण है। श्रद्धा और स्वतन्त्र दृष्टि का इसमें समन्वय है। वैदिक और बौद्ध विचारधाराओ के सन्दर्भ भी इस ग्रन्थ मे उपलब्ध हैं, जो तुलनात्मक अध्ययन करने वाले जिज्ञासुओ के लिए महत्त्वपूर्ण है।[1]

आचाराग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध को आचार-चूला के नाम से भी जाना जाता है। इसमे चार चूलाओ मे १६ अध्ययन हैं। आचाराग के इस विभाग मे मुनियो एव साध्वियो के आहार सम्बन्धी नियमो का विवेचन है। स्वाध्याय करने के स्थान आदि एव महाव्रतो के पालन के सम्बन्ध मे यह ग्रन्थ प्रकाश डालता है।

ऐसी मान्यता है कि आचाराग की रचना गणधर सुधर्मा स्वामी ने तीर्थ-प्रवर्तन के समय की थी। इससे इसकी प्राचीनता सिद्ध होती है, जो ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भी उचित है। यद्यपि सभी आगम ग्रन्थो मे भगवान् महावीर के उपदेश हैं, किन्तु ये उनके साक्षात् शब्द नही हैं। महावीर से गणधरो ने जो सुना उसे अपनी स्मृति से अपने शिष्यो को सुनाया। वही ज्ञान व्यवस्थित होते-होते आज आगमो के रूप मे उपलब्ध है। अत किसी व्यक्ति विशेष को आचाराग का कर्ता नही माना जा सकता। इसमे कतिपय स्थविरो का योग रहा

---

1 आयारो तह आयार-चूला, आचार्य तुलसी, भूमिका

होगा। आचाराग की रचना गद्य-पद्य मिश्रित शैली मे हुई है। इसे प्राचीन टीकाकारो ने चौर्ण शैली कहा है। आचाराग के गद्य और पद्य भाग को पृथक करने मे डा शुब्रिग का विशेष योगदान है। इस दृष्टि से आचाराग भाषा और काव्य के अध्ययन की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रचना है।

उत्तराध्ययन सूत्र :

आगमो का एक वर्गीकरण अध्ययनकाल की दृष्टि से भी किया गया है। तदनुसार उत्तराध्ययनसूत्र आचाराग के बाद पढा जाता था। अत. बाद में पढने के कारण इसे उत्तराध्ययन कहा गया है। अब दशवैकालिक सूत्र के बाद इसे पढने की परम्परा है। उत्तराध्ययन को मूलसूत्र कहा गया है। ये ग्रन्थ मुनि की जीवन-चर्या के प्रारम्भ मे मूलभूत सहायक बनते हैं तथा आगमो का अध्ययन इनके पठन के बाद ही प्रारम्भ होता है। अत इस दृष्टि से उत्तराध्ययन मूलग्रन्थ है। श्रुत-पुरुष की स्थापना मे दशवैकालिक और उत्तराध्ययन को चरण स्थान के बाद मे माना गया है। अत. ये श्रुत के भी मूल हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र का नाम बहुवचनात्मक है--'उत्तरज्झयाणि'। यह उसके बहु-विषयता और सकलन-सामग्री का सूचक है। इसमे कुल मिलाकर ३६ अध्ययन हैं। उनमे से चौदह अध्ययन धर्मकथात्मक (७ से ९, १२-१४,१८-२३ एव २५-२७), छह अध्ययन उपदेशात्मक (१,३-६), नौ अध्ययन आचारात्मक (२, ११, १५, १६, १७, २४, २६, ३२, ३५) तथा सात अध्ययन (२८-३१, ३३, ३४ ३६) सैद्धान्तिक हैं। निर्युक्तिकार के अनुसार उत्तराध्ययन के विषय किसी आचार्य द्वारा कथित नही हैं। कुछ महावीर द्वारा उपदिष्ट हैं, कुछ आगम ग्रन्थो से सकलित तथा कुछ स्थविरो द्वारा रचित। अत. उत्तराध्ययन का कोई एक कर्त्ता नही है। किन्तु उसमे एकरूपता अवश्य है। क्योकि वे सब उपदेश महावीर की वाणी के द्योतक हैं।[1]

इस ग्रन्थ का अतिम रूप कब स्थिर हुआ, इस विषय मे मतभेद है। कुछ लोगो का कहना है कि इसके प्रथम १८ अध्ययन प्राचीन एव उत्तरवर्ती १८ अध्ययन अर्वाचीन हैं। किन्तु इसका कोई ठोस प्रमाण नही है। इतना अवश्य है कि उत्तराध्ययन एक ग्रन्थ के रूप मे वीरनिर्वाण की पहली शताब्दी तक निश्चित हो चुका था। उसमे कितने अध्ययन थे, यह नही कहा जा सकता। किन्तु

---

1 'दसवेआलिय तह उत्तरज्झयणाणि', मुनि नथमल, भूमिका

देवर्द्धिगणी के समय तक उत्तराध्ययन के ३६ अध्ययन प्रचलित थे, जिनका संकलन देवर्द्धिगणी ने किया है। इस दृष्टि से इनके अंतिम कर्ता उनको माना जा सकता है। इस अनेक कर्तृत्व के कारण और विषय की दृष्टि से भी उत्तराध्ययन मे ई पू ६०० से ईस्वी सन् ४०० तक एक हजार वर्षों का दार्शनिक और सैद्धान्तिक चिन्तन सकलित है।

उत्तराध्ययनसूत्र की भाषा महाराष्ट्री से प्रभावित अर्धमागधी है। इसमे महाराष्ट्री के अनेक शब्द-रूप उपलब्ध होते हैं। यथा—कम्मेग, नेयाण वारमग, सुद्धी, बम्हणो आदि। अर्धमागधी की भाषा मे भी एकरूपता नही है। कुछ विभक्तिविहीन शब्दो का इसमे प्रयोग हुआ है। ह्रस्व का दीर्घीकरण और दीर्घ का ह्रस्वीकरण, विभक्ति और वचनो मे विपर्यय तथा व्याकरण की दृष्टि से असिद्ध शब्दो का प्रयोग भी इस ग्रन्थ मे हुआ है। यह सब विभिन्नता इस ग्रन्थ को सकलन ग्रन्थ कहने को मजबूर करती है।

सग्रह-ग्रन्थ होने से उत्तराध्ययनसूत्र और अधिक महत्त्वपूर्ण बन गया है। इसमे वे आख्यान हैं, जो परवर्ती कथासाहित्य के विकास की परम्परा को जोडते हैं। काव्य की दृष्टि से इसमे छन्द, अलकारो का अच्छा समावेश हुआ है।[1] प्राचीन शिक्षाशास्त्र, लक्षणविद्या, एव आध्यात्मशास्त्र का यह सन्दर्भ ग्रन्थ है। इसमे नीति सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्य आये हैं, जो जीवन-शोधन की दिशा का मार्गदर्शन करते हैं। इसके कुछ अध्ययनो का परिचय द्रष्टव्य है।

विनयसूत्र—उत्तराध्ययन का प्रथम सूत्र का नाम विनय है। इसमे विनय के अनुवर्तन, प्रवर्तन, अनुशासन, शुश्रूषा और शिष्टाचार परिपालन आदि अनेक प्रकारो का वर्णन हुआ है। विद्या-ग्रहण एवं गुणो की शिक्षा के लिए विनयी होना अनिवार्य है। मुनि को विनयी बनने के लिए अनेक उपदेशो का इसमे सकलन है। अविनीत रहने से क्या-क्या दोष हैं, उनका निर्देश भी यहा किया गया है। विनीत होने से निर्द्वन्दता, ऋजुता मृदुता एव अनासक्ति जैसे गुण प्राप्त होते हैं। इस सूत्र मे कहा गया है कि जिस प्रकार पृथ्वी प्राणियो के लिए आधार होती है, उसी प्रकार विनीत शिष्य धर्माचरण करने वालो के लिए आधार होता है।

हवइ किच्चाण सरण, भूयाण जगई जहा, उत्त. १/४५

---

[1] उत्तराध्ययन . एक समीक्षात्मक अध्ययन, स. मुनि नथमल

असंस्कृतम्—इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है कि जीवन असस्कृत है, उसका सधान नही किया जा सकता। इसलिए व्यक्ति को प्रमाद नही करना चाहिए। इस अध्ययन मे जीवन के प्रति सही दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है तथा मिथ्या मान्यताओ का निरसन किया गया है। धर्म कब करना चाहिए, कर्म का क्या परिणाम होता है तथा अप्रमादी होने से ही जीवन का लक्ष्य प्राप्त होता है आदि बातो का इसमे विस्तार से वर्णन है।

कापिलीय—इस अध्ययन मे कपिल मुनि की प्रधानता है, इसलिए इसका नाम कापिलीय रखा गया है। कपिल मुनि ने जिन उपदेशो द्वारा चोरो को भी धार्मिक बना दिया था, उसका सकलन इसमे है। लोभ कैसे बढता है तथा उसके क्या परिणाम होते हैं, इसका स्वय अनुभूत चित्र इसमे प्रस्तुत किया गया है। प्रसगवश इस अध्ययन मे ग्रन्थित्याग, ससार की असारता, कुतीर्थिको की अज्ञता, अहिसा-विवेक आदि विषय भी प्रतिपादित हुए हैं। 'ध्रुवक' छन्द का इसमे प्रयोग किया गया है, जो श्लोक के अन्त मे गाया जाता है।

इस प्रकार उत्तराध्ययन के अन्य अध्ययन भी बडे महत्त्वपूर्ण हैं। उनमे अप्रमादी होने की बात कही है। अत. अप्रमाद-पदो एव भावनापदो को भी इस सकलन में दे दिया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्द एवं प्रवचनसार

शौरसेनी आगम साहित्य के पुरस्कर्ताओ मे आचार्य कुन्दकुन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर साहित्य के दार्शनिक ग्रन्थो का स्वतन्त्र रूप से प्रणयन आचार्य कुन्दकुन्द ने ही किया है। आगम साहित्य के मुख्य प्रणेता होने के कारण प्रत्येक मागलिक कार्य के प्रारभ मे 'मगल कुन्दकुन्दाद्यो' कह कर आपका स्मरण किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी थे। इनके पिता का नाम करमण्डु और माता का नाम श्रीमती था। 'कोण्डकुन्दपुर' मे इनका जन्म हुआ था। इसी गाव के नाम पर इनका 'कुन्दकुन्द' नाम प्रसिद्ध हुआ है। दीक्षाकालीन नाम पद्मनन्दि था। इन्होंने युवावस्था मे ही श्रमणदीक्षा धारण कर ली थी तथा जीवन-पर्यन्त एक महान् तपस्वी और प्रतिभाशाली आचार्य के रूप मे आप प्रसिद्ध रहे हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द मूलसघ के आदि प्रवर्तक माने जाते हैं। कर्णाटक प्रान्त के श्रमण साधुओ पर आपके व्यक्तित्व का पर्याप्त प्रभाव था। कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो ने बहुत विचार किया है। डा. ए. एन. उपाध्ये ने

उन सब मतो की समीक्षा की है। जैन परम्परा के अनुसार ई. पू ८ से ई सन् ४४ तक कुन्दकुन्द का समय माना जाता है। अत इनको ई. सन् के प्रारम्भ म स्वीकार किया जा सकता है।[1]

प्राकृत साहित्य के रचनाकारो मे कुन्दकुन्द अग्रगणी हैं। इन्होंने प्रवचनसार, समयसार एव पञ्चास्तिकाय ये तीन विशाल ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत मे लिखे हैं। इनके अतिरिक्त नियमसार, अष्टपाहुड, रयणसार, वारसअणुपेक्खा आदि ग्रन्थ के लेखक भी आप हैं। ये सभी ग्रन्थ जैन सिद्धान्त को प्रतिपादित करने वाले हैं।

प्रवचनसार जैनदर्शन की महत्त्वपूर्ण कृति है। इस पर अमृतचन्द्रसूरि और जयसेन आचार्य की सस्कृत टीकाए हैं। इस ग्रन्थ मे तीन अधिकार हैं। प्रथम ज्ञानाधिकार मे आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध तथा स्वरूप, सर्वज्ञत्व की सिद्धि, इन्द्रिय और अतीन्द्रिय सुख, आत्मा के शुभ अशुभ और शुद्ध उपयोग तथा मोह क्षय आदि-का सुन्दर वर्णन है। ज्ञेय अधिकार मे जगत् के पदार्थों के स्वरूप एव उनके कार्यों, कर्मफल तथा जीव और पुद्गल के सम्बन्धो का विवेचन है। निश्चय और व्यवहार का अविरोध तथा शुद्धात्मा के स्वरूप का निश्चय भी इसमे किया गया है। तीसरे चरित्र अधिकार मे मुनि के स्वरूप, गुणो एव उसकी जीवनचर्या का विवेचन कुन्दकुन्द ने किया है। आगमज्ञान का लक्षण एव मोक्ष तत्त्व का कथन भी इसी अधिकार मे है। इस प्रकार प्रवचनसार सक्षेप मे जैन दर्शन के सभी मूलभूत सिद्धान्तो को प्रतिपादित करता है।

धार्मिक और दार्शनिक दृष्टि के अतिरिक्त प्रवचनसार भाषाशास्त्रीय एवं काव्यात्मक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। इसमे अर्धमागधी एव सस्कृत से प्रभावित शौरसेनी-भाषा का प्रयोग हुआ है, जिसे विद्वानो ने जैन शौरसेनी कहा है। प्रवचनसार मे कुछ अन्य दार्शनिको के मतो का भी उल्लेख हुआ है, किन्तु उनके नाम निर्देश नही है। इस प्रकार तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से भी प्रवचनसार उपयोगी है।

आचार्य शिवार्य एवं भगवती आराधना :

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद दिगम्बर आचार्यों मे यतिवृषभ, वट्टेकर एव शिवार्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। शिवार्य ने 'भगवती आराधना' की रचना जैन

---

[1] प्रवचनसार, डा. उपाध्ये, इन्ट्रोडक्शन

शौरसेनी प्राकृत मे की है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि शिवार्य के गुरु जिननन्दि, सर्वगुप्त एव मित्रनदि थे, जिनसे आपने आगमो का अध्ययन किया था। इनका अपर नाम शिवकोटि भी है। वास्तव मे इनका नाम शिव था। आर्य एव कोटि विशेषण प्रतीत होते है। जैन धम के प्राचीन ग्रन्थो मे भी आपका नामोल्लेख हुआ है। इनको यापनीय सघ का आचाय माना जाता है। इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी है।

शिवार्य ने भगवती आराधना मे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चार आराधनाओ का निरूपण किया है। इस ग्रन्थ मे २१६६ गाथाए और ४० अधिकार हैं। प्रधानतया इस ग्रन्थ मे मुनिधर्म का वर्णन है। किन्तु मन, इन्द्रिय, कषाय आदि पर जो विजय प्राप्त करने का उपदेश है, वह सामान्य जन के लिए भी अनुकरणीय है। इस ग्रन्थ मे अनेक परवर्ती विद्वानो ने टीकाए लिखी हैं।

प्राकृत भाषा में आगम ग्रन्थो और टीका साहित्य के अतिरिक्त अनेक काव्य ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। यद्यपि आगम साहित्य के ग्रन्थो मे भी काव्यात्मकता कम नही है, फिर भी स्वतन्त्र काव्य ग्रन्थो की रसात्मकता हृदय को छूने वाली है। प्राकृत के काव्य ग्रन्थो मे दो प्रकार की रचनाए उपलब्ध हैं—विशुद्ध लौकिक काव्य एवं धार्मिक काव्य। इन दोनो प्रकार के प्राकृत काव्यो की अनेक रचनाए आज उपलब्ध हैं। उनमे सेतुबन्ध, पउमचरिय, गाथासत्तसई, गउडवहो, लीलावईकहा आदि प्रसिद्ध हैं।

विमलसूरि एवं पउमचरियं :

प्राकृत-काव्यों के अन्तर्गत चरित काव्य भी लिखे गये हैं। इनका मूल आगम और पुराण हैं, जहा मे कथावस्तु को लेकर चरितकाव्य पुष्ट किये गये हैं। चरितकाव्य धार्मिक होते हुए भी लौकिक और काव्यमय होते हैं। प्राकृत मे आचार्य विमलसूरि ने प्रथम चरितकाव्य लिखा है, जिसका नाम पउमचरिय है। सस्कृत साहित्य मे जो स्थान वाल्मीकि रामायण का है, प्राकृत मे वही स्थिति पउमचरिय की है।

आचार्य विमलसूरि नाइलकुल के वशज थे। इनके गुरू का नाम विजय था। स्वय ग्रन्थकर्ता के कथनानुसार उन्होंने ईस्वी सन् ६० के लगभग इस ग्रन्थ की रचना की थी। किन्तु पउमचरिय के अन्त और बाह्य साक्ष्यो के आधार पर विद्वानो ने विमलसूरि का समय ईस्वी सन् की चौथी शताब्दी माना है।

विमलसूरि के मतानुसार उन्होने इस ग्रन्थ मे रामकथा को नये ढग से प्रस्तुत किया है। क्योकि वाल्मीकि रामायण मे कई अविश्वमनीय घटनाओ का उल्लेख है, पडित लोग जिन पर श्रद्धा नही करते। वस्तुत स्वय विमलसूरि इससे नहीं बच सके हैं। पउमचरिय मे भी कई घटनाए आश्चर्यजनक हैं। पुराण कथा को लेकर जो काव्य लिखा जायेगा उसमे यह सब होना स्वाभाविक है। चाहे किसी भी धर्म को मानने वाला कवि उसे लिखे। फिर भी विमलसूरि ने इस रामकथा मे अपनी कई मौलिक उद्भावनाए की हैं।

पउमचरिय मे जैन दृष्टि से रामकथा वर्णित है। प्रारम्भ मे विश्व की स्थिति वशोत्पत्ति आदि का वर्णन है। राजा श्रेणिक की जिज्ञासा का समाधान करते हुए गौतम इस रामकथा को कहते हैं। इस कथा मे राक्षस और वानर वश को विद्याधर वश से उत्पन्न माना गया है। कथा के प्राय सभी प्रमुख पात्र जैन धर्म को मानने वाले होते हैं। जीवन के अन्त मे वैराग्य धारण कर वे तपश्चरण करते हैं। रामकथा के अन्तर्गत अनेक अवान्तर-कथाओ का समावेश है। रामभक्त हनुमान की कथा अजना एव पवनजय के कथानक से सम्बन्धित है। पउमचरिय में कुल ११८ उद्देशक हैं। उनमे १५—१७ वे उद्देशको में हनुमानकथा वर्णित है।

अजना-पवनंजय कथा

हनुमान के जन्म की कथा कहते हुए गणधर गौतम ने कहा कि आदित्यपुर में प्रह्लाद नामक राजा और कीर्तिमती नामक उसकी पत्नी थी। उनके पवनजय नाम का पुत्र था। एक बार जब प्रह्लाद अपने परिवार के साथ नन्दीश्वर तीर्थ की वन्दना करने गया तो वहा उसका मित्र राजा महेन्द्र भी सपरिवार आया था। उसकी अजना सुन्दरी नामक पुत्री भी साथ थी। पवनजय और अजना का विवाह होना वहा निश्चित हुआ। किन्तु विवाह के पूर्व एक दिन पवनजय ने एकान्त मे अजना की सखियो के द्वारा विद्युत्प्रभ नामक किसी राजकुमार की प्रशसा करते हुए सुन लिया। मिश्रकेशी नामक सखी ने कहा कि पवनजय से विद्युत्प्रभ हर दृष्टि से अच्छा वर है। यह सुनकर भी अजना ने इसका प्रतिवाद नही किया। अत. पवनजय ने समझा कि अजना भी मुझे नही चाहती। उसने मेरे साथ धोखा किया है। इस घटना के आधार पर पवनजय ने गुरूजनो के जोर देने पर अजना से विवाह तो कर लिया, किन्तु तुरन्त ही अपने नगर मे आकर अजना का परित्याग कर दिया। अजना महल मे एकाकी जीवन व्यतीत करने लगी।

इसी बीच पवनजय को रावण और वरुण के बीच होने वाले युद्ध मे जाना पड गया। वह अजना से बिना मिले उसकी उपेक्षा करके चला गया। युद्ध के

दौरान एक दिन रात्रि मे पवनंजय ने चकवा-चकवी के प्रणय-बन्धन को देखा। उसे अजना की याद हो आयी। वह अपने मित्र प्रहसित के साथ गुप्त रूप से अंजना से मिलने चला आया। महल मे किसी प्रकार उसने अजना से समागम किया। अपने अपराध की क्षमा मागी तथा प्रभात होने के पूर्व ही अजना को अपनी अगूठी देकर वह पुनः युद्ध के मैदान मे चला गया।

इधर कुछ समय बाद अजना के गर्भ के लक्षण प्रगट हुए। उसकी सास कीर्तिमति ने पवनजय की अंगूठी का भी विश्वास न कर अंजना को कुलटा समझ कर घर से निकाल दिया। अजना सखी वसन्तमाला के साथ गर्भभार ढोती हुई जगल में भटकती रही। वहा उसने अनेक कष्टो को सहते हुए हनुमान को जन्म दिया। अन्त मे वह अपने मामा के यहा हनुरुहनगर मे रहने लगी, जहाँ पवनजय से उसका पुनः मिलन हुआ। इस प्रकार आगे की रामकथा के विभिन्न कथानक इस पउमचरिय मे वर्णित हैं। इस ग्रन्थ ने विभिन्न भाषाओ मे लिखी जाने वाली रामकथाओं को बहुत प्रभावित किया है।

— —

साभार

आगम ग्रन्थो के ये मूल पाठ विभिन्न ग्रन्थों से उध्दृत किये गये हैं। आचाराग एव उत्तराध्ययन के पाठ 'प्राकृत-गद्य-पद्य-बंध'—स –डा० नथमल टाटिया, प्रकाशक—प्राकृत शोध सस्थान वैशाली तथा 'धर्मप्रज्ञप्ति'—स.—मुनि नथमल, प्रकाशक—तेरापथ महासभा कलकत्ता से लिये गये हैं। प्रवचनसार का ज्ञानाधिकार डा० ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित 'प्रवचनसार' प्रकाशक—रायचन्द्र ग्रन्थमाला, अगास से तथा भगवतीआराधना की गाथाए 'अर्हत्प्रवचन'—स.—प चैनसुखदास, से उध्दृत की गयी हैं। अजनापवनजय की कथा 'पउमचरिय'—स.—जैकोबी एव हिन्दी अनुवादक—शान्तिलाल वोरा, प्रकाशक—प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद से ली गयी है। इन सभी सम्पादको एव प्रकाशको के प्रति मैं हृदय से आभारी हूँ। प्राकृत के पठन-पाठन के प्रचार-प्रसार मे यह उनका ही योग है।

इन सभी प्राकृत पाठो का हिन्दी अनुवाद सशोधित कर मूल पाठ के अनुसार दिया गया है। इससे छात्रों को प्राकृत की व्याकरण एव विभक्ति आदि का ज्ञान हो सकेगा। व्याख्यात्मक एव भावानुवाद के लिए इन पाठो के मूलग्रन्थो का अध्ययन अपेक्षित है।

—सम्पादक

प्राकृत-काव्य

१. आचारांगसुत्तं

उवहाणसुयं (१.९)

अढ़मो उद्देसो

अहा-सुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उट्ठाय
संखाएँ तंसि हेमन्ते अहुणा-पव्वाइए रीइत्था ।१।

'नो चेवि'मेण वत्थेणं पीहिस्सामि तसि हेमन्ते—'
से पारएँ अवकहाए, एयं कु अणुधम्मियं तस्स ।२।

चत्तारि साहिए मासे बहवे पाण-जाइयागम्म
अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसियाणं तथ्थ हिंसिसु ।३।

सवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्का'सि वत्थगं भगवं,
अचेलए तओ चाई तं वोसज्ज वत्थमणगारे ।४।

अदु पोरिसिं तिरिय-भित्तिं चक्खुमासज्ज अन्तसो झाइ;
अह चक्खु-भीय-सहिया ते "हन्ता हन्ता" बहवे कन्दिसु ।५।

सयणेहिं वीइमिस्सेहिं इत्थिओ तत्थ से परिन्नाया;
सागारियं न से सेवे, इति से सयं पवेसिया झाइ ।६।

जे के'इमे अगारत्था, मीसी-भावं पहाय से झाइ
पुट्ठो वि नाभिभासिसु, गच्छइ नाइवत्तई अञ्जू ।७।

नो सुकरमेगेसिं. नाभिभासे अभिवायमीणे,
हय-पुव्वों तत्थ दडेहिं, लूसियपुव्वों अप्प-पुण्णेहिं ।८।

फरुसाइं दुत्तिइक्खाइ अइयच्चे मुणी परक्कममाणे,
आघाय-नट्ट-गीयाइ दण्ड-जुज्झाइ मुट्ठि-जुज्जाइ ।९।

गढिए मिहु-कहासु समयम्मि नाइ-सुए विसोएँ अद्दक्खू;
एयाइ सो उरालाइ गच्छइ नायपुत्ते असरणाए ।१०।

अवि साहिए दुवे वासे सीओद अभोच्चा निक्खन्ते;
एगत्त-गए पिहियच्चे से अभिन्नाय-दसणे सते ।११।

पुढविं च आउ-कायं च तेउ-कायं च वाउ-काय च
पणगाइ बोय-हरियाइ तस-कायं च सव्वसो नच्चा
'एयाइ सति' पडिलेहे 'चित्तामन्ताइ' से अभिन्नाय
परिवज्जियाण विहरित्था इति सखाएँ से महावीरेः।१२-१३।

'अदु थावरा य तसत्ताए तसजीवा य थावरत्ताए,
'अदु सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया पुढो वाला ।१४।

भगव च एवमन्नेसी . 'सोवहिए हु लुप्पई वाले,
कम्मं च सव्वसो नच्चा त पडियाइक्खें पावग भगव ।१५।

दुविह समेच्च मेहावी किरियमक्खाय'णेलिस'न्नाणी
आयाणसोयमइवाय-सोयं जोगं च सव्वसो नच्चा १६।

अइवत्तियमणाउट्टिं सयमन्नेसिं अकरणयाए :
जस्सि'त्थिआ परिन्नाया सव्वकम्मावहाओं अद्दक्खू ।१७।

अहा-कड न सेवे, सव्वसो कम्मुणा य अद्दक्खू
ज किंचि पावगं, भगव तं अकुव्वं वियडं भुञ्जित्था ।१८।

ना सेवई य परवत्थं, पर-पाए वि से न भुञ्जित्था,
परिवज्जियाण ओमाणं गच्छइ संखडिं असरणाए ।१९।

मायन्ने असण-पाणस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने;
अच्छिं पि नो पमज्जिया, नो वि य कण्डूयए मुणी गायं ।२०।

अप्प तिरियं पेहाए अप्पं पिट्ठओ व पेहाए
अप्प वुइए पडिभाणी पत्थ-पेही चरे जयमाणे ।२१।

सिसिरंसि अद्ध-पडिवन्ने तं वोसज्ज वत्थमणगारे
पसारेत्तु बाहुँ परक्कमे नो अवलम्बियाण खन्धंसि ।२२।

एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया
वहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रीयन्ते—त्ति बेमि ।२३।

बीओ उद्देसो

चरियासणाइं सेज्जाओ एगइयाओ जाओ वुइयाओ,
आइक्ख ताइं सयणासणाइं जाइ सेवित्थ से महावीरे ।२४।

आवेसण-सभा-पवासु पणिय-सालासु एगया वासो
अदु वा पलिय-ट्ठाणेसु पलालपुञ्जेसु एगया वासो ।२५।

आगन्तारे आरामागारे नगरे वि एगया वासो
सुसाणे सुन्न-गारे वा रुक्खमूले वि एगया वासो ।२६।

एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि प-तेलस वासे;
राइंदिय पि जयमाणे अप्पमत्ते समाहिए झाइ; ।२७।

निद्दं पि नो पगामाए सेवइ य भगवं उट्ठाए;
जग्गावई य अप्पाणं, ईसिं साइयासी अपडिन्ने ।२८।

सम्बुज्झमाणें पुणरावि आसिंसु भगव उट्ठाए
निक्खम्म एगया राओ वहिं चकमिया मुहुत्तागं ।२९।

सयणेहिं तस्सुवसग्गा भीमा आसी अणेग-रूवा य;
ससप्पगा य जे पाणा अदु वा पक्खिणो उवचरन्ति ।३०।

अदु कुचरा उवचरन्ति गाम-रक्खा य सत्ति-हत्था य;
अदु गामिया उवसग्गा : इत्थी एगइया पुरिसो वा ।३१।

इह-लोइयाइ पर-लोइयाइ भीमाइ अणेग-रूवाइं
अवि सुब्भि-दुब्भि-गन्धाइ सद्दाइ अणेग-रूवाइं ।३२।

अहियासए सया समिए फासाइं विरूव-रूवाइ ;
अरइं रइं च अभिभूय रीयई माहणे अवहु-वाई ।३३।

सयणेहिं तत्थ पुच्छिंसु एग-चरा वि एगया राओ,
अव्वाहिए कसाइत्था: पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ।३४।

"अयमन्तरंसि; को एत्थ?" "अहमंसि" त्ति "भिक्खु" आहट्टु
अयमुत्तमे से धम्मे · तुसिणीएं स कसाइए झाइ ।३५।

जंसि प्पेगें पवेवन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते
तंसि प्पेगे अणगारा हिमवाए निवायमेसन्ति ।३६।

'संघाडिओ पविसिस्सामो, एहा य समादहमाणा
पिहिया वा सक्खामो, अइदुक्खं हिमग-संफासा' ।३७।

तंसि भगव अपडिन्ने अहे-वियडे अहियासए दविए,
निक्खम्म एगया राओ चाएइ भगवं समियाए ।३८।

एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया
वहुसो अपडिन्नेणं भगवया एव रीयन्ते—त्ति बेमि ।३९।

तइओ उद्देसो

तण-फास सीय-फासे य तेओ-फासे य दंस-मसए य
अहियासए सया समिए फासाइं विरूव-रूवाइं ।४०।

अह दुच्चर-लाढं अचारी वज्ज-भूमिं च सुब्भ-भूमिं च,
पंतं सेज्जं सेविंसु आसणगाइं चेव पन्ताइं ।४१।

लाढेहिं तस्सुवसग्गा वहुवे : जाणवया लूसिंसु,
अह लुक्ख-देसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिंसु निवइंसु ।४२।

अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए डसमाणे,
छुच्छुक्कारेन्ति आहन्तुं "समणं कुक्कुरा डसन्तु" त्ति ।४३।

एलिक्खए जणे भुज्जो वहवे वज्ज-भूमिं फरुसासी,
लट्ठिं गहाय नालीयं समणा तत्थ एव विहरिंसु; ।४४।

एवं पि तत्थ विहरन्ता पुट्ठ-पुव्वा अहेसि सुणएहिं,
सलुञ्चमाणा सुणएहिं—दुच्चरगाणि तत्थ लाढेहिं ।४५।

निहाय दण्डं पाणेहिं तं कायं वोसज्जमणगारे
अह गाम-कण्टए, भगवं ते अहियासए अभिसमेच्चा, ।४६।

नाओ संगाम-सीसे व पारए तत्थ से महावीरे ।
एव पि तत्थ लाढेहिं अलद्ध-पुव्वो वि एगया गामो; ।४७।

उवसंकमन्तमपडिन्नं गामन्तियं पि अप्पत्तं
पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु : "एयाओ परं पलेहि !" त्ति ।४८।

हय-पुव्वो तत्थ दण्डेण अदु वा मुट्ठिणा अदु फलेणं
अदु लेलुणा कवालेण, "हन्ता हन्ता" वहवे कन्दिसु ।४९।

मंसूणि छिन्न-पुव्वाइ, ओट्ठुभियाएँ एगया कायं
परिस्सहाइं लुञ्चिसु अदु वा पसुणा उवकरिंसु, ।५०।

उच्चालइय निहणिसु अदु वा आसणाओं खलइंसु—
वोसट्ठ-काएँ पणयासी दुक्ख-सहे भगव अपडिन्ने ।५१।

सूरो सगामसीसे व सवुडे तत्थ से महावीरे
पडिसेवमाणो फरुसाइ अचले भगव रीइत्या ।५२।

एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया
वहुसो अपडिन्नेण भगवया एव रीयन्ते—त्ति वेमि ।५३।

चउत्थो उद्देसो

ओमोयरियं चाएई अपुट्ठे वि भगव रोगेहिं;
पुट्ठो व से अपुट्ठो वा नो से साइज्जइ तेइच्छ ।५४।

संसोहण च वमण च गायब्भगण सिणाण च
सबाहणं न से कप्पे दन्त-पवखालण परिन्नाए ।५५।

विरए य गाम-धम्मेहि रीयइ माहणे अवहु-वाई,
सिसिरम्मि एगया भगव छायाएँ झाइ आसी य ।५६।

आयावई य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडुए अभितावे,
अदु जावइत्थ लूहेण ओयण-मन्थु-कुम्मासेणं ।५७।

एयाणि तिण्णि पडिसेवे अट्ठ मासे य जावए भगवं,
अपिइत्थ एगया भगवं अद्ध-मास अदु वा मासं पि ।५८।

अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदु वा अपिवित्था,
राओवरायं अपडिन्ने अन्न-गिलायमेगया भुञ्जे ।५९।

छट्ठेणमेगया भुञ्जे अदु वा अट्ठमेण दसमेणं,
दुवालसमेण एगया भुञ्जे पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ।६०।

नच्चाण से महावीरे नो वि य पावगं सयमकासी
अन्नेहिं वी न कारेत्था कीरन्तं पि नाणुजाणित्था ।६१।

गामं पविस्स नगरं वा घासमेसे कडं परट्ठाए
सुविसुद्धमेसिया भगवं आयय-जोगयाएँ सेवित्था ।६२।

अदु वायसा दिगिञ्छत्ता, जे अन्ने रसेसिणो सत्ता
घासेसणाएँ चिट्ठन्ते सययं निवइए य पेहाए,
अदु माहणं व समणं वा गाम-पिण्डोलगं व अइहिं वा
सोवागं मूसियारिं वा कुक्कुरं वा विविह ठिअ पुरओ,
वित्ति-च्छेय वज्जन्तो तेस'प्पत्तिय परिहरन्तो
मन्द परक्कमे भगवं, अहिंसमाणो घासमेसित्था ।६३-६४-६५।

अवि सूइयं व सुक्कं वा सीय-पिण्ड पुराण-कुम्मासं
अदु बोक्कसं पुलागं वा लद्धे पिण्डे अलद्धएदविए ।६६।

अवि झाइ से महावीरे आसत्थे अकुक्कुए झाणं,
उड्ढं अहे य तिरियं च लोएँ झायइ समाहिमपडिन्ने ।६७।

अकासी विगय-गेही य सद्द-रूवेसु अमुच्छिए झाइ
छउमत्थो वि परक्कममाणे न पमाय सइं पि कुव्वित्था ।६८।

सयमेव अभिसमागम्म आयय-जोगमाय-सोहीए
अभिनिव्वुडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ।
एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया
बहुसो अपडिन्नेणं भगवया एवं रीयन्ते—त्ति बेमि ।६९-७०।

——

२. उत्तरज्झयणसुत्तं

वीनयसुयं (१)

संजोगा विप्पमुक्कस्स अणगारस्स भिक्खुणो।
विणयं पाउकरिस्सामि आणुपुव्विं सुणेह मे।१।

आणानिद्देसयरे गुरूणमुववायकारए।
इंगियागारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई।२।

आणाऽनिद्देसकरे गुरूणमणुववायकारए।
पडणीए असंवुद्धे अविणीए त्ति वुच्चई।३।

जहा सुणी पूइकण्णी णिक्कसिज्जइ सव्वसो।
एव दुस्सीलपडिणीए मुहरी निक्कसिज्जई।४।

कणकुंडगं चइत्ताण विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एव सीलं चइत्ताण दुस्सीले रमई मिए।५।

सुणिया भाव साणस्स सूयरस्स नरस्स य।
विणए ठव्वेज अप्पाणमिच्छन्तो हियमप्पणो।६।

तम्हा विणयमेसिज्जा सील पडिलभेज्जए।
वुद्धउत्तो नियागट्ठी न निक्कसिज्जइ कण्हुई।७।

णिसते सियामुहरी वुद्धाण मत्तिए सया।
अट्ठजुत्ताणि सिक्खिज्जा निरट्ठाणि उ वज्जए।८।

अणुसासिओ न कुप्पिज्जा खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं हासं कीडं च वज्जए।९।

मा य चण्डालियं कासी वहुय मा य आलवे।
कालेण य अहिज्जित्ता तओ झाइज्ज एगगो।१०।

आहच्च चण्डालियं कट्टु न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडे त्ति भासेज्जा अकडं नों कडे त्ति य।११।

मा गलियस्से व कसं वयणमिच्छे पुणो पुणो।
कसं दट्ठुमाइण्णे पावग परिवज्जए।१२।

अणासवा थूलवया कुसीला
मिउं पि चण्डं पकरिन्ति सीसा।
चित्ताणुया लहु दक्खोववेया
पसायए ते हु दुरासयं पि।१३।

नापुट्ठो वागरे किंचि पुट्ठो वा नालियं वए।
कोह असच्चं कुव्वेज्जा धरेज्जा पियमप्पियं।१४।

अप्पाचेव दमेयव्वो अप्पाहु खलु दुद्दमो।
अप्पा दतो सुही होइ अस्सिं लोए परत्थ य।१५।

वरं मे अप्पा दतो सज्जमेण तवेण य।
माहं परेहिं दम्मंतो बंधणेहि वहेहि य।१६।

पडिणीय च बुद्धाणं वाया अदुव कम्मुणा।
आवी वा जइ वा रहस्से नेव कुज्जा कयाइ वि।१७।

असंखयं (४)

असखय जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं ।
एव विजाणाहि जणे पमत्ते किण्णु विहिंसा अजया गहिन्ति ।१।

जे पावकम्मेहि धण मणूसा समाययन्ती अमइं गहाय ।
पहाय ते पास पवट्टिए नरे वेराणुबद्धा नरय उवेन्ति ।२।

तेणे जहा सन्धिमुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एव पया पेच्च इह च लोए कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ।३।

ससारमावन्न परस्स अट्ठा साहारण जं च करेइ कम्मं ।
कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले न बन्धवा बन्धवय उवेन्ति ।४।

वित्तेण ताणं न लभे पमत्तो इममि लोय अदु वा परत्था ।
दीवप्पणट्ठे व अणन्तमोहे नेयाउयं दुट्ठमदुट्ठमेव ।५।

सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी न वीससे पण्डिए आसुपन्ने ।
घोरा मुहुत्ता अबल सरीर भारुण्डपक्खी व चरप्पमत्तो ।६।

चरे पयाइं परिसकमाणो जं किंचि पासं इह मण्णमाणो ।
लाभन्तरे जीविय वूहइत्ता पच्छा परिन्नाय मलावधंसी ।७।

छन्दनिरोहेण उवेइ मोक्ख आसे जहा सिक्खियवम्मधारी ।
पुव्वाइ वासाइ चरप्पमत्ते तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्खं ।८।

स पुव्वमेव न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासयवाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयमि कालोवणीए सरीरस्स भेए ।९।

खिप्प न सक्केइ विवेगमेउ तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लोय समया महेसी आयाणुरक्खी चरमप्पमत्ते ।१०।

मुहुं मुहुं मोहगुणे जयन्तं अणेगरूवा समणं चरन्तं ।
फासा फुसन्ती असमंजसं च न तेसि भिक्खु मणसा पउस्से ।११।

मन्दा य फासा बहुलोहणिज्जा तहप्पगारेसु मणं न कुज्जा ।
रक्खिज्ज कोहं विणएज्ज माणं मायं न सेवे पयहेज्ज लोहं ।१२।

जेऽसंखया तुच्छा परप्पवाई ते पिज्जदोसाणुगया परब्भा ।
एए अहम्मे त्ति दुगुंछमाणो कंखे गुणे जाव सरीरभेउ ।१३।
त्ति बेमि

काविलीयं (८)

अधुवे असासयंमी संसारंमि दुक्खपाउराए ।
किं नाम होज्ज त कम्मयं जेणाहं दोग्गइ न गच्छज्जा ।१।

विजहित्तु पुव्वसजोयं न सिणेहं कहिंचि कुव्वेज्जा ।
असिणेहसिणेहकरेहिं दोसपउंसेहि मुच्चए भिक्खू ।२।

तो नाणदसणसमग्गो हियनिस्सेसाय सव्वजीवाणं ।
तेसिं विमोक्खणट्ठाए भासई मुणिवरो विगयमोहो ।३।

सव्वं गन्थं कलहं च विप्पजहे तहाविहं भिक्खू ।
सव्वेसु कामजाएसु पासमाणो न लिप्पई ताई ।४।

भोगामिसदोसविसन्ने हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे ।
वाले य मन्दिए मूढे वज्झई मच्छिया व खेलंमि ।५।

दुपरिच्चया इमे कामा नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं ।
अह सन्ति सुव्वया साहू जे तरिन्ति अतरं वणिया वा ।६।

समणासु एगे वयमाणा पाणवहं मिया अयाणन्ता ।
मन्दा निरयं गच्छन्ति वाला पावियाहिं दिट्ठीहिं ।७।

न हु पाणवहं अणुजाणे मुच्चेज्ज कयाइ सव्वदुक्खाणं।
एवारिएहिं अक्खाय जेहिं इमो साहुधम्मो पन्नतो।८।

पाणे य नाइवाएज्जा से समीइ त्ति वुच्चई ताई।
तउँ से पावयं कम्मं निज्जाइ उदगं व थलाउँ।९।

जगनिस्सिएहिं भूएहिं तसनामेहिं थावरेहिं च।
नो तेसिमारभे दडं मणसा वयसा कायसा चेव।१०।

सुद्धेसणाउँ नच्चाण तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।
जायाए घासमेसेज्जा रसगिद्धे न सिया भिक्खाए।११।

पन्ताणि चेव सेवेज्जा सीयपिंडं पुराणकुम्मासं।
अदु वुक्कस पुलागं वा जवणट्ठाए निसेवए मथुं।१२।

जे लक्खणं च सुविणं अंगविज्ज च जे पउँजन्ति।
न हु ते समणा वुच्चन्ति एव आयरिएहिं अक्खाय।१३।

इहजीवियं अणियमेत्ता पभट्ठा समाहिजोएहिं।
ते कामभोगरसगिद्धा उववज्जन्ति आसुरे काए।१४।

तत्तो वि य उव्वट्टित्ता संसारं बहु अणुपरियडन्ति।
बहुकम्मलेवलित्ताण वोही होइ सुदुल्लहा तेसिं।१५।

कसिणं पि जो इमं लोयं पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स।
तेणावि से न सतुस्से इइ दुप्पूरए इमे आया।१६।

जहा लाहा तहा लोहो लाहा लोहो पवड्ढई।
दोमासकयं कज्जं कोडीए वि न निट्ठियं।१७।

नो रक्खसीसु गिज्झेज्झा गडवच्छासुऽणेगचित्तासु।
जाउँ पुरिसं पलोभित्ता खेल्लन्ति जहा व दासेहिं।१८।

नारीसु नोवेगिज्जेज्जा इत्थी विप्पजहे अणगारे।
धम्मं च पेसल नच्चा तत्थ ठवेज्ज भिक्खू अप्पाणं।१९।

इइ एस धम्मे अक्खाए कविलेण च विसुद्धपन्नेण।
तरिहिन्ति जेउ काहिन्ति तेहि आराहिया दुवे लोगे।२०।
त्ति वेमि

अप्पमाय-पदं

दुमपत्तए पण्डुयए जहा निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुयाण जीविय समय गोयम! मा पमायए।१।

कुसग्गे जह ओसबिन्दुए थोव चिट्ठइ लम्बमाणए।
एवं मणुयाण जीवियं समय गोयम! मा पमायए।२।

इइ इत्तरियाम्मि आउए जीवियए वहुपच्चवायए।
विहुणाहि रयं पुरे कड समय गोयम! मा पमायए।३।

दुलहे खलु माणुसे भवे चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो समयं गोयम! मा पमायए।४।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सोयबले य हायई समय गोयम! मा पमायए।५।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से चक्खुवले य हायई समयं गोयम! मा पमायए।६।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से घाणवले य हायई समयं गोयम! मा पमायए।७।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से जिब्भवले य हायई समय गोयम! मा पमायए।८।

परिजूरइ ते सरीरयं केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से फासबले य हायई समय गोयम! मा पमायए।९।

परिजूरइ ते सरीरय केसा पण्डुरया हवन्ति ते।
से सव्वबले य हायई समय गोयम! मा पमायए।१०।

अरई गण्ड विसूइया आयंका विविहा फुसन्ति ते।
विवडइ विद्धंसइ ते सरीरय समय गोयम! मा पमायए।११।

इम च मे अत्थि इम च नत्थि इमं च मे किच्च इमं अकिच्चं।
तं एवमेव लालप्पमाण हरा हरंति त्ति कह पमाए? ।१२।

एगओ सवसित्ताण दुहओ सम्मत्तसजुया।
पच्छा जाया! गमिस्सामो भिक्खाणा कुले कुले।१३।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्ख जस्स वऽत्थि पलायण।
जो जाणे न मरिस्सामि सो हु कखे सुए सिया।१४।

असंखय जीविय मा पमायए जरोवणीयस्स हु नत्थि ताण।
एव वियाणाहि जणे पमत्ते कण्णू विहिंसा अजया गहिन्ति।१५।

तेणे जहा सन्धि-मुहे गहीए सकम्मुणा किच्चइ पावकारी।
एवं पया पेच्च इह च लोए कडाण कम्माण न मोक्ख अत्थि।१६।

ससारमावन्न परस्स अट्ठा साहारणं जं च करेइ कम्मं।
कम्मस्स ते तस्स उ वेय-काले न बन्धवा बन्धवय उवेन्ति।१७।

सुत्तेसु यावी पडिबुद्ध-जीवी न वीससे पण्डिए आसु-पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबल सरीर भारुण्ड-पक्खी व चरऽप्पमत्तो।१८।

छन्द निरोहेण उवेइ मोक्ख आसे जहा सिक्खिय-वम्मधारी।
पुव्वाइं वासाइं चरप्पमत्तो तम्हा मुणी खिप्पमुवेइ मोक्ख।१९।

स पुव्वमेवं न लभेज्ज पच्छा एसोवमा सासय-वाइयाणं ।
विसीयई सिढिले आउयंमि कालोवणीए सरीरस्स भेए ।२०।

खिप्पं न सक्केइ विवेगमेउं तम्हा समुट्ठाय पहाय कामे ।
समिच्च लायं समया महेसी अप्पाण-रक्खी चरमप्पमत्तो ।२१।

भावणा-पदं

कन्दप्पमाभिओगं किब्बिसियं मोहमासुरत्तं च ।
एयाओ दुग्गईओ मरणम्मि विराहिया होन्ति ।१।

कन्दप्पकोक्कुइवाइं तह सीलसहावहासविगहाहिं ।
विम्हावेन्तो य परं कन्दप्प भावणं कुणइ ।२।

मन्ताजोगं काउं भूईकम्मं च जे पउंजन्ति ।
सायरसइड्ढिहेउं अभिओगं भावणं कुणइ ।३।

नाणस्स केवलीणं धम्मायरियस्स संघसहूणं ।
माई अवण्णवाई किब्बिसिय भावणं कुणइ ।४।

अणुवद्धरोसपसरो तह य निमित्तंमि होइ पडिसेवि ।
एएहि कारणेहि आसुरिय भावणं कुणइ ।५।

सत्थग्गहण विसभक्खण च जलणं च जलप्पवेसो य ।
अणायारभण्डसेवा जम्मणमरणाणि बन्धन्ति ।६।

---

३. पवयणसार

णाणाहिकार (१)

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोदघाइकम्ममलं।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं।१।

सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे।२

ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते।३।

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं।४।

तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती।५।

संपज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो।६।

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो।७।

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो।८।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ।९।

णत्थि विणा परिणाम अत्थो अत्थ विहेण परिणामो ।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ।१०।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपयोगजुदो ।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं ।११।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो ।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमदि अच्चत्त ।१२।

अइसयमादसमुत्थ विसयातीदं अणोवममणतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुह सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ।१३।

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसजुदो विगदरागो ।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति ।१४।

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणतरायमोहरओ ।
भूदो सयमेवादा जादि पर णेयभूदाणं ।१५।

तह सो लद्धसहावो सव्वण्हू सव्वलोगपदिमहिदो ।
भूदो सयमेवादा हवदि सयभु त्ति णिद्दिट्ठो ।१६।

भंगविहीणो य भवो सभवपरिवज्जिदो विणासो हि ।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदि सभवणाससमवायो ।१७।

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठ जादस्स ।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि सब्भूदा ।१८।

पक्खीणघादिकम्मो अणंतवरवीरिओ अधिकतेजो ।
जादो अणिंदिओ सो णाण सोक्खं च परिणमदि ।१९।

सोक्खं वा पुरा दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं ।
जम्हा अदिंदियत्त जाद तम्हा दु त रोय ।२०।

परिणमदो खलु णाण पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया ।
सो रोव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ।२१।

णत्थि परोक्ख किं चि वि समत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स ।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स ।२२।

आदा णाणपमाण णाण रोयप्पमाणमुद्दिट्ठ ।
रोय लोयालोय तम्हा णाण तु सव्वगय ।२३।

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा ।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव ।२४।

हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदण ण जाणादि ।
अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ।२५।

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा ।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ।२६।

णाणं अप्प त्ति मद वट्टदि णाण विणा ण अप्पाण ।
तम्हा णाण अप्पा अप्पा णाण वा अण्ण वा ।२७।

णाणी णाणसहावो अट्ठा रोयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूण रोवण्णोण्णेसु वट्टंति ।२८।

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणि रोयेसु रूवमिव चक्खू ।
जाणदि पस्सदि णियद अक्खातीदो जगमसेस ।२९।

रयणमिह इदणील दुद्धज्भसिय जहा समासाए ।
अभिभूय त पि दुद्ध वट्टदि तह णाणमत्थेसु ।३०।

जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगयं ।
सव्वगयं वा णाण कह ण णाणट्ठिया अट्ठा ।३१।

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण पर परिणमदि केवली भगवं ।
पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस ।३२।

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाण जाणग सहावेण ।
त सुयकेवलि मिसिणो भणति लोयप्पदीवयरा ।३३।

सुत्त जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहि वयणेहिं ।
त जाणणा हि णाण सुत्तस्स य जाणणा भणिया ।३४।

जो जाणदि सो णाण ण हवदि णाणेण जाणगो आदा ।
णाण परिणमदि सय अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ।३५।

तम्हा णाण जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं ।
दव्वं ति पुणो आदा पर च परिणामसंबद्धं ।३६।

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं ।
वट्टते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ।३७।

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ।
ते होंति असब्भूदा पज्जाया णाणपच्चक्खा ।३८।

जदि पच्चक्खमजायं पज्जाय पलइय च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाण दिव्व ति हि के परूवेंति ।३९।

अत्थं अक्खणिवदिद ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ।
तेसिं परोक्ख भूद णादुमसक्कं ति पण्णत्त ।४०।

अपदेसं सपदेस मुत्तममुत्तं च पज्जयमजाद ।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदिय भणिय ।४१।

परिणमदि णेयमट्ठ णादा जदि णेव खाइग तस्स ।
णाण ति त जिणिदा खवयतं कम्ममेवुत्ता ।४२।

उदयगदा कम्मसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया ।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा वधमणुभवति ।४३।

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो तेसिं ।
अरहंताण काले मायाचारो व्व इत्थीण ।४४।

पुण्णफला अरहता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिया तम्हा सा खाइग त्ति मदा ।४५।

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण ।
ससारो वि ण विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ।४६।

ज तक्कालियमिदर जाणदि जुगव समतदो सव्वं ।
अत्थ विचित्तविसम त णाण खाइय भणिय ।४७।

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादु तस्स ण सक्क सप्पज्जय दव्वमेग वा ।४८।

दव्व अणतपज्जयमेगमणताणि दव्वजादाणि ।
ण विजाणदि जदि जुगव किध सो सव्वाणि जाणादि ।४९।

उप्पज्जदि जदि णाण कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स ।
ते णेव हवदि णिच्चं ण खाइग णेव सव्वगद ।५०।

तिक्कालणिच्चविसम सयल सव्वत्थ सभव चित्तं ।
जुगव जाणदि जोण्ह अहो हि णाणस्स माहप्प ।५१।

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबन्धगो तेण पण्णत्तो ।५२।

अत्थि अमुत्तं मुत्ता अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु।
णाणं च तहा सोक्खं ज तेसु परं च तं णेयं ।५३।

जं पेच्छदो अमुत्ता मुत्तेसु अदिदियं च पच्छण्णं।
सयलं सगं च इदर त णाणं हवदि पच्चक्ख ।५४।

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं।
ओगेण्हिता जोग्गं जाणदि वा तण्ण जाणादि ।५५।

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला होंति।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हति ।५६।

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।
उवलद्धं तेहि कध पच्चक्खं अप्पणो होदि ।५७।

ज परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं ति भणिदमट्ठेसु।
जदि केवलेण णाद हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ।५८।

जादं सयं समत्तं णाणमणतत्थवित्थड विमल।
रहियं तु ओग्गहादिहिं सुहं ति एगतिय भणियं ।५९।

जं केवलं ति णाण तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो जम्हा घादी खयं जादा ।६०।

णाण अत्थतगयं लोयालोएसु वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठ सव्वं इट्ठ पुण ज हि तं लद्धं ।६२।

मणुआसुरामरिंदा अहिद्दुदा इंदियेहिं सहजेहिं।
असहता त दुक्ख रमन्ति विसएसु रम्मेसु ।६३।

जेसिं विसयेसु रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भाव।
जइ तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थ ।६४।

पप्पा इट्ठे विसये फासेहि समस्सिदे सहावेण।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुह ण हवदि देहो।६५।

एगतेण हि देहो सुह ण देहिस्स कुणादि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्ख दुक्ख वा हवदि सयमादा।६६।

तिमिरहरा जइ दिठ्ठी जणस्य दीवेण णत्थि कायव्व।
तह सोक्ख सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वति।६७।

सयमेव जहादिच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि।
सिद्धो वि तहा णाण सुह च लोगे तहा देवो।६८।

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोव ओगप्पगो अप्पा।६९।

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि काल लहदि सुह इदिय विदिह।७०।

सोक्ख सहावसिद्ध णत्थि सुराण पि सिद्धभुवदेसे।
ते देहवेदणट्टा रमति विसएसु रम्मेसु।७१।

णरणारयतिरियसुरा भजंति जदि देहसभव दुक्खं।
किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाण।७२।

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीण विद्धि करेति सुहिदा इवाभिरदा।७३।

जदि सन्ति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि।
जणयति विसयतण्ह जीवाण देवदताण।७४।

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि।
इच्छति अणुभवति य आमरणं दुक्खसतत्ता।७५।

सपरं बाधासहियं विच्छिण्ण बंधकारणं विसमं ।
ज इंदियेहि लद्धं त सोक्ख दुक्खमेव तहा ।७६।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं ।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ।७७।

एव विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा ।
उवओग विसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्खं ।७८।

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि ।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्ध ।७९।

जो जाणदि अरहत दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लय ।८०।

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्म ।
जहदि जदि राग दोसे सो अप्पाण लहदि सुद्ध ।८१।

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण खविदकम्मंसा ।
किच्चा तधोवदेस णिव्वादा ते णमो तेसिं ।८२।

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति ।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो पप्पा राग व दोसं वा ।८३।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि विविहो वंधो तम्हा ते सखवइदव्वा ।८४।

अट्ठे अजधागहण करुणा भावो य मणुवतिरिएसु ।
विसएसु य प्पसगो मोहस्सेदाणि लिगाणि ।८५।

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा ।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्व ।८६।

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णाया भणिया ।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो ।८७।

जो मोह रागदोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ।८८।

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहि संबद्धं ।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ।८९।

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु ।
अभिगच्छदु णिम्मोहं इच्छदि जदि अप्पणो अप्पा ।९०।

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे ।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ।९१।

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ।९२।

——

४. भयवई आराहणा

मण-इन्दिय-कसाय-विजय

तत्तो दुक्खे पथे पाडेदु दुद्धओ जहा अस्सो ।
बीलणमच्छोव्व मणो णिग्घेत्तु दुक्करो धणिदं ।१।

जस्स य कदेण जीवा ससारमणतय परिभमति ।
भीमासुहगदिबहुल दुक्खसहस्साणि पावंता ।२।

णाणोवओगरहिदेण ण सक्को चित्तणिग्गहो काउ ।
णाणं अकुसभूदं मत्तस्स हु चित्तहत्थिस्स ।३।

विज्जा जहा पिसायं सुट्ठुपउत्ता करेदि पुरिसवस ।
णाण हिदयपिसायं सुट्ठु पउत्तं करेदि पुरिसवस ।४।

आरण्णवो वि मत्तो हत्थी णियमिज्जदे वरत्ताए ।
जह तह णियमिज्जदि सो णाणवरत्ताए मणहत्थी ।५।

तह्मा सो उड्डहणो मणसक्कडओ जिणोवएसेण ।
रामेदव्वो णियद तो सो दोसं ण काहिदि से ।६।

आणिहुदमणसा इंदियसप्पाणि णिगेण्हिदु ण तीरति ।
विज्जामंतोसधहीणेण व आसीविसा सप्पा ।७।

सुमरणपुंखा चिंतावेगा विसयविसलित्तरइधारा ।
मणधणुमुक्का इंदियकंडा विंधति पुरिसमयं ।८।

इंदियदुद्दंतस्सा णिग्घिप्पंति दमणाणखलिणेहि ।
उप्पहगामी णिग्घिप्पंति हु खलिणेहि जह तुरया ।९।

विसयाडवीए उम्मग्गविहरिदा मुचिरमिंदियस्सेहि ।
जिणदिट्ठणिव्वुदिपह धण्णा ओदरिय गच्छंति ।१०।

भिउडीतिवलियवयणो उग्गदणिच्चलसुरत्तलुक्खक्खो ।
कोवेण रक्खसो वा णराण भीमो णरो भवदि ।११।

णासेदूण कसाय अग्गी णासदि सयं जधा पच्छा ।
णासेदूण तध णरं णिरासवो णस्सदे कोधो ।१२।

कोधो सत्तुगुणकरो णीयाण अप्पणो य मण्णुकरो ।
परिभवकरो सवासे रोसो णासेदि णरमवसं ।१३।

ण गुणे पेच्छदि अववददि गुणे जपदि अजपिदव्वं च ।
रोसेण रुद्दहिदओ णारगसीलो णरो होदि ।१४।

जध करिसयस्स धण्णं वरिसेण समज्जिदं खलं पत्तं ।
डहदि फुलिंगो दित्तो तध कोहग्गी समणसारं ।१५।

जध उग्गविसो उग्गो दब्भतणकुरहदो पकुप्पंतो ।
अचिरेण होदि अविसो तध होदि जदी वि णिस्सारो ।१६।

सुट्ठु वि पियो मुहुत्तेण होदि वेसो जणस्स कोधेण ।
पधिदो वि जसो णस्सदि कुद्धस्स अकज्जकरणेण ।१७।

माणी विस्सो सव्वस्स होदि कलहभयवेरदुक्खाणि ।
पावदि माणी णियदं इहपरलोए य अवमाणं ।१८।

सयणस्स जणस्स पिओ णरो अमाणी सदा हवदि लोए ।
णाणं जसं च अत्थं लभदि सकज्जं च साहेदि ।१९।

ण य परिहायदि कोई अत्थे मउगत्तणे पउत्तम्मि ।
इह य परत्त य लब्भदि विणएण हु सव्वकल्लाण ।२०।

पावइ दोसं मायाए महल्ल लहुसगावराधेवि ।
सच्चाण सहस्साण वि माया एक्का वि णासेदि ।२१।

कोहो माणो लोहो य जत्थ माया वि तत्थ सण्णिहिदा ।
कोहमदलोहदोसा सव्वे मायाए ते होंति ।२२।

लोभेणासाधत्तो पावइ दोसे वहुं कुणदि पाव ।
णीए अप्पाणं वा लोभेण णरो ण विगणेदि ।२३।

लोभो तणे वि जादो जणेदि पावमिदरत्थ किं वच्चं ।
लगिदमउडादिसंगस्स वि हु ण पाव अलोहस्स ।२४।

तेलोक्केण वि चित्तस्स णिव्वुदी णत्थि लोभघत्थस्स ।
सतुट्ठो हु अलोभो लभदि दरिद्दो वि णिव्वाण ।२५।

होदि कसाउम्मत्तो उम्मत्तो तध ण पित्तउम्मत्तो ।
ण कुणदि पित्तुम्मत्तो पावं इदरो जधुम्मत्तो ।२६।

इंदियकसायचोरा सुभावणासकलाहिं वज्झंति ।
ता ते ण विकुव्वंति चोरा जह संकलाबद्धा ।२७।

णिच्च पि अमज्झत्थे तिकालविसयाणुसरणपरिहत्थे ।
संजमरज्जूहिं जदी वधंति कसायमक्कडए ।२८।

णस्सदि सगपि वहुग पि णाणमिंदियकसायसम्मिस्स ।
विससम्मिसिदद्दुद्ध णस्सदि जध सक्कराकढिद ।२९।

इंदियकसायदुद्दतस्सा पाडेंति दोसविसमेसु ।
दुक्खावहेसु पुरिसे पसढिलणिव्वेदखलिया हु ।३०।

इंदियकसायदुद्दंतस्सा णिव्वेदखलिणिदा संता।
झाणकसाए भीदा ण दोसविसमेसु पाडेंति ।३१।

इंदियकसायपण्णगदट्ठा वहुवेदणुद्दिदा पुरिसा।
पब्भट्ठझाणसुक्खा संजमजीवं पविजहंति ।३२।

जह इंधणेहिं अग्गी वड्ढइ विज्झाइ इंधणेहिं विणा।
गंथेहिं तह कसाओ वड्ढइ विज्झाइ तेहिं विणा ।३३।

जह पत्थरो पडंतो खोभेइ दहे पसण्णमवि पंकं।
खोभेइ पसंतपि कसाय जोवस्स तह गंथो ।३४।

उड्डहणा अदिचवला अणिग्गहिदकसायमक्कडा पावा।
गंथफललोलहिदया णासंति हु संजमारामं ।३५।

धिदिवम्मिएहिं उवसमसरेहिं साधूहिं णाणसत्थेहिं।
इंदियकसायसत्तू सक्का जूत्तेहिं जेदुं जे ।३६।

इंदियकसायवग्घा संजमणरघादणे अदिपसत्ता।
वेरग्गलोहदढपंजरेहिं सक्का हु णियमेदुं ।३७।

इंदियकसायहत्थी वयवारिमदीणिदा उवायेण।
विणयवरत्तावद्धा सक्का अवसा वसे कादुं ।३८।

इंदियकसायहत्थी वोलेदुं सीलफलियमिच्छंता।
धीरेहिं रुंभिदव्वा धिदिजमलारुप्पहारेहिं ।३९।

इंदियकसायहत्थी दुस्सीलवणं जदा अहिलसेज्ज।
णाणंकुसेण तइया सक्का अवसा वसं कादुं ।४०।

विसयवणरमणलोला वाला इंदियकसायहत्थी ते।
पसमे रामेदव्वा तो ते दोसं ण काहिंति ।४१।

---

५. | पउमचरियं

पवणंजय-अंजणासुन्दरीभोगविहाणाहियारो (१६.)

अंजणाअचाओ परिवेअणं य

सरिऊण मिस्सकेसी-वयणं पवणंजएण रुट्ठेण।
चत्ता महिन्दतणया, दुक्खियमणसा अकयदोसा ।१।

विरहाणलतवियङ्गी, न लभइ विद्दाणलोयणा निद्दं।
वामकरधरियवयणा, वाउकुमार विचिन्तन्ती ।२।

उक्कण्ठिय त्ति गाढं, नयणजलासित्तमलिणथणजुयला।
हरिणी व वाहभीया, अच्छइ मग्गं पलोयन्ती ।३।

अइतणुइयसव्वङ्गी, कडिसुत्तय-कडयसिढिलियाभरणा।
भारेण अंसुयस्स य, जाइ महन्तं परमखेयं ।४।

ववगयदप्पुच्छाहा, दुक्खं धारेइ अङ्गमङ्गाइं।
एमेव सुन्नहियया, पलवइ अन्नन्नवयणाइं ।५।

पासायतलत्था चिय, मोहं गच्छइ पुणो पुणो बाला।
नवर आसासिज्जइ, सीयलपवणेण फुसियङ्गि ।६।

मिउ-महुर-मम्मणाए, जपइ वायाएँ दीणवयणाइं।
अइतणुओ वि महायस! तुज्झऽवराहो मए न कओ ।७।

मुञ्चसु कोवारम्भं, पसियसु मा एव निट्ठुरो होहि।
पणिवइयवच्छला किल, होन्ति मणुस्सा महिलियाणं ।८।

एयाणि य अन्नाणि य जंपन्ती तत्थ दीणवयणाइं।
अह सा महिन्दतणया, गमेइ काल चिय वहुत्ता।९।

रावणस्स वरुणेन सह विरोहो

एत्थन्तरे विरोहो, जाओ अइदारुणो रणारम्भो।
रावण-वरुणाण तओ, दोण्ह वि पुण दप्पियबलाण।१०।

लङ्काहिवेण दूओ, वरुणस्स य पेसिओ अइतुरन्तो।
गन्तूण पणमिऊण य, कयासणो भणइ वयणाइं।११।

विज्जाहराण सामी, वरुण! तुमं भणइ रावणो रुट्ठो।
कुणह पणाम व फुडं, अह ठाहि रणे सवडहुत्तो।१२।

हसिऊण भणइ वरुणो, दूयाहम! को सि रावणो नामं?।
न य तस्स सिरपणाम, करेमि आणापमाण वा।१३।

न य सो वेसमणो हं, नेय जमो न य सहस्सकिरणो वा।
जो दिव्वसत्थभीओ, कुणइ पणाम तुह दीणो।१४।

वरुणेण उवलद्धो, दूओ ज एव फरुसवयणेहिं।
तो रावणस्स गन्तुं, कहेइ सव्व जहाभणिय।१५।

सोऊण दूयवयण, रुट्ठो लङ्काहिवो भणइ एव।
दिव्वत्थेहि विणा मएँ, अवस्स वरुणो जिणेयव्वो।१६।

एत्थन्तरे पयट्टो, दसाणणो सयलबलकयाडोवो।
संपत्तो वरुणपुर, मणि-कणयविचित्तपायार।१७।

सोऊण रावण सो समागय पुत्तबलसमाउत्तो।
रणपरिह थुच्छाहो, विणिग्गओ अभिमुहो वरुणो।१८।

राईवपुण्डरीया, पुत्ता वत्तीसइं सहस्साइं।
सन्नद्ध-बद्ध-कवया, अभिट्टा रक्खसभडाण।१९।

अन्नोन्नसत्थभज्जन्त-संकुलं हुयवहुट्ठियफुलिङ्गं।
अइदारुणं पवत्त, जुज्झं विवडन्तवरसुहड।२०।

रह-गय-तुरङ्ग-जोहा, समरे जुज्झन्ति अभिमुहावडिया।
सर-सत्ति-खग्ग-तोमर-चक्काउह-मोग्गरकरग्गा।२१।

रक्खसभडेहि भग्गं, वरुणवलं विवडियाऽऽस-गय-जोहं।
दट्ठूण पलायन्तं, जलकन्तो अभिमुहीहूओ।२२।

वरुणेण वलं भग्गं, ओसरियं पेच्छिऊण दहवयणो।
अभिडइ रोसपसरिय-सरोहनिवह विमुञ्चन्तो।२३।

वरुणस्स रावणस्स य, वट्टन्ते दारुणे महाजुज्झे।
ताव य वरुणसुएहिं, गहिओ खरदूसणो समरे।२४।

दट्ठूण दूसणं सो, गहिओ मन्तीहि रावणो भणिओ।
जुज्झन्तेण पहु! तुमे अवस्स मारिज्जए कुमरो।२५।

काऊण संपहारं, समय मन्तीहि रक्खसाहिवई।
खरदूसणजीयत्थे, रणमज्झाओ समोसरिओ।२६।

पायालपुरवरं सो, पत्तो मेलेइ सव्वसामन्ते।
पल्हायखेयरस्स वि, सिग्घ पुरिस विसज्जेइ।२७।

पवणवेगस्स रणत्थं गमणं

गन्तूण पणमिऊण य, पल्हायनिवस्स कहइ सबन्ध।
रावण-वरुणाण रणं, दूसणगहण जहावत्तं।२८।

पडियागओ महप्पा, पायालपुरट्ठिओ ससामन्तो ।
मेलेइ रक्खसवई, अहमवि वीसज्जिओ तुज्झ ।२९।

सोऊण वयणमेयं, पल्हाओ तक्खणे गमणसज्जो ।
पवणंजएण धरिओ, अच्छ तुम ताव वीसत्थो ।३०।

सन्तेण मए सामिय!, कीस तुमं कुणसि गमणआरम्भ ?
आलिङ्गणफलमेयं, देमि अह तुज्झ साहीणं ।३१।

भणिओ य नरवईण बालोसि तुमं अदिट्ठसंगामो ।
अच्छसु पुत्त ! घरगओ कीलन्तो नियय‌कीलाए ।३२।

मा ताय ! एव जपसु, बालो त्ति अह अदिट्ठरणकज्जो ।
किं वा मत्तवरगए, सीहकिसोरो न घाएइ ? ।३३।

पल्हायंनरवईण, ताहे वीसज्जिओ पवणवेगो ।
भणिओ य पत्थिवजय, पुत्तय ! पावन्तओ होहि ।३४।

तातस्स सिरपणामं, काउं आपुच्छिऊण से जणणिं ।
आहरणभूसियङ्गो, विणिग्गओ सो सभवणाओ ।३५।

सहसा पुरम्मि जाओ, उल्लोल्लो निग्गओ पवणवेगो ।
सोऊण अञ्जणा वि य, त सद्दं निग्गया तुरियं ।३६।

अइपसरन्तसिणेहा, थम्भल्लीणा पइ पलोयन्ती ।
वरसालिभञ्जिया इव, दिट्ठा बाला जणवएण ।३७।

पेच्छइ य त कुमार, महिन्दतणया नरिन्दमग्गम्मि ।
पुलयन्ति न य तिप्पइ, कुवलयदलसरिसनयणेहि ।३८।

पवणंजएण वि तओ, पासायतलट्ठिया पलोयन्ती ।
दूर उव्वियणिज्जा, उक्का इव अञ्जणा दिट्ठा ।३९।

तं पेच्छिऊण रुट्ठो, पवणगई रोसपसरियसरीरो।
भणइ य अहो ! अलज्जा, जा मज्झ उवट्ठिया पुरओ।४०।

रइऊण अञ्जलिउडं, अलणपणाम च तस्स काऊण।
भणइ उवालम्भन्ती, दूरपवासो तुमं सामी ! ।४१।

वच्चन्तेण परियणो, सव्वो संभासिओ तुमे सामि ! ।
न य अन्नमणगएण वि, आलत्ता ह अकयपुण्णा।४२।

जीयं मरणं पि तुमे, आयत्त मज्झ नत्थि संदेहो।
जइ वि हु जासि पवास, तह वि य अम्हे सरेज्जासु।४३।

एव पलवन्तीए, पवणगई मत्तगयवरारूढो।
निग्गन्तूण पुराओ, उवट्ठिओ माणससरम्मि।४४।

विज्जाबलेण रइओ, तत्थ निवेसो घरा-ऽऽसणाईओ।
ताव च्चिय अत्थगिरिं, कमेण सूरो समल्लीणो।४५।

पवणवेगेण अंजनाअ सुमरणं

अह सो सझासमए, भवण-गवक्खन्तरेण पवणगई।
पेच्छइ सरं सुरम्मं, निम्मलवरसलिलसंपुण्णं।४६।

मच्छेसु कच्छभेसु य, सारस-हंसेसु पयलियतरङ्गं।
गुमुगुमुगुमन्तभमर, सहस्सपत्तेसु सच्छन्नं।४७।

अइदारुणप्पयावो, लोए काऊण दीहरज्जं सो।
अत्थाओ दिवसयरी, अवसाणे नरवई चेव।४८।

दियहम्मि वियसियाइं, निययं भमरउलछड्डियदलाइं।
मउलेन्ति कुवलयाइ, दिणयरविरहम्मि दुहियाइं।४९।

अह ते हसाईया, सउणा लीलाइउं सरवरम्मि ।
दट्ठु सभ्कासमय, गया य निययाइं ठाणाइं ।५०।

तत्थेक्का चक्काई, दिट्ठा पवणंजएण कुव्वन्ती ।
अहिय समाउलमणा, अहिणवविरहग्गितवियङ्गी ।५१।

उद्धाइ चलइ वेवइ, विहुणइ पक्खावलिं वियम्भन्ती ।
तडपायवे विलग्गइ, पुणरवि सलिलं समल्लियइ ।५२।

विहडेइ पउमसण्ड, दइययसङ्काएँ चञ्चुपहरेहिं ।
उप्पयइ गयणमग्ग, सहसा पडिसद्दयं सोउं ।५३।

गरुयपियविरहदुहिय, चक्कि दट्ठूण तग्गयमणेणं ।
पवणजएण सरिया, महिन्दतणया चिरपमुक्का ।५४।

भणिऊण समाढत्तो, हा ! कट्ठं जा मए अकज्जेणं ।
मूढेण पावगुरुणा, चत्ता वरिसाणि बावीस ।५५।

जह एसा चक्काई, गाढ पियविरहदुक्खिया जाया ।
तह सा मज्झ पिययमा, सुदीणवयणा गमइ कालं ।५६।

जइ नाम अकण्णसुह, भणिय सहियाएँ तीएँ पावाए ।
तो किं मए विमुक्का, पसयच्छी दोसपरिहीणा ? ।५७।

परिचिन्तिऊण एव वाउकुमारेण पहसिओ भणिओ ।
दट्ठूण चक्कवाई, सरिया मे अञ्जणा भज्जा ।५८।

एन्तेण मए दिट्ठा, पासायतलट्ठिया पलोयन्ती ।
ववगयसिरि-सोहग्गा, हिमेण पहया कमलिणि व्व ।५९।

त चिय करेहि सुपुरिस !, अज्ज उवाय अकालहीणम्मि ।
जेण चिरविरहदुहिया, पेच्छामि अहञ्जणा बाला ।६०।

परिमुणियकज्जनिहसो, पवणगइं भणइ पहसिओ मित्तो।
मोत्तूण तत्थ गमणं, अन्नोवायं न पेच्छामि।६१।

पवणंजएण तुरियं, सद्दावेऊण मोग्गरामच्चो।
ठविओ य सेन्नरक्खो, भणिओ मेरुं अह जामि।६२।

चन्दणकुसुमविहत्था, दोण्णि वि गयणङ्गणेण वच्चन्ता।
रयणीए तुरियचवला, संपत्ता अञ्जणाभवणं।६३।

तो पहसिओ ठवेउं, घरस्स अग्गीवए पवणवेग।
अब्भिन्तरं पविट्ठो, दिट्ठो बालाए सहस त्ति।६४।

भणिओ य भो! तुमं को?,केण व कज्जेण आगओ एत्थ?।
तो पणमिऊण साहइ, मित्तो हं पवणवेगस्स।६५।

सो तुज्झ पिओ सुन्दरि!, इहागओ तेण पेसिओ तुरियं।
नामेण पहसिओ हं, मा सामिणि! ससयं कुणसु।६६।

सोऊण सुमिणसरिसं, बाला पवणञ्जयस्स आगमणं।
भणइ य किं हससि तुमं ?, पहसिय ! हसिया कयन्तेणं।६७।

अहवा को तुह दोसो?, दोसो च्चिय मज्झ पुव्वकम्माणं।
जा हं पियपरिभूया, परिभूया सव्वलोएणं।६८।

भणिया य पहसिएणं, सामिणि ! मा एव दुक्खिया होहि।
सो तुज्झ हिययइट्ठो, एत्थ च्चिय आगओ भवणे।६९।

कच्छन्तरट्ठिओ सो, वसन्तमालाए कयपणामाए।
पवणंजओ कुमारो, पवेसिओ वासभवणम्मि।७०।

अब्भुट्ठिया य सहसा, दइयं दट्ठूण अञ्जणा बाला।
ओणमियउत्तमङ्गा, तस्स य चलणञ्जली कुणइ।७१।

पवणञ्जओवविट्ठो, कुसुमपडोच्छइयरयणपल्लङ्के ।
हरिसवसुब्भिन्नङ्गी, तस्स ठिया अञ्जणा पासे ।७२।

कच्छन्तरम्मि बीए, वसन्तमाला समं पहसिएण ।
अच्छइ विणोयमुहला, कहासु विविहासु जपन्ती ।७३।

पवणवेगेण सह अंजनाअ समागयं

तो भणइ पवणवेगो, ज सि तुम सासिया अकज्जेण ।
त मे खमाहि सुन्दरि !, अवराहसहस्ससघाय ।७४।

भणइ य महिन्दतणया, नाह ! तुमं नत्थि कोइ अवराहो ।
सुमरिय मणोरहफल, संपइ नेह वहेज्जासु ।७५।

तो भणइ पवणवेगो, सुन्दरि ! पम्हुससु सव्वअवराहे ।
होहि सुपसन्नहियया, एस पणामो कओ तुज्झ ।७६।

आलिङ्गिया सनेह, कुवलयदलसरिसकोमलसरीरा ।
वयण पियस्स अणिमिस-नयणेहि व पियइ अणुरायं ।७७।

घणनेहनिब्भराण, दोण्ह वि अणुरायलद्धपसराण ।
आवडिय चिय सुरयं, अणेगचडुकम्मविणिओगं ।७८।

आलिङ्गण-परिचुम्बण-रइउच्छाहणगुणेहि सुसमिद्ध ।
निव्ववियविरहदुक्ख, मणतुट्ठियरञ्जियजहिच्छ ।७९।

सुरतूसवे समत्ते, दोण्णि वि खेयालसङ्गमङ्गाइ ।
अन्नोन्नभुयालिङ्गण-सुहेण निद्द पवन्नाइ ।८०।

एवं कमेण ताण, सुरयसुहासायलद्धनिद्दाणं ।
किंचावसेससमया, ताव य रयणी खयं पत्ता ।८१।

रयणीमुहपडिबुद्धो, पवणगई भणइ पहसिओ मित्तो।
उट्ठेहि लहुँ सुपुरिस !, खन्धावारं पगच्छामो।८२।

सुणिऊण मित्तवयण, सयणाओ उट्ठिओ पवणवेगो।
उवगूहिऊण कन्तं, भणइ य वयणं निसामेहि।८३।

अच्छ तुमं वीसत्था, मा उव्वेयस्स देहि अत्ताणं।
जाव अह दहवयणं, दट्ठूण लहु नियत्तामि।८४।

तो विरहदुक्खभीया, चलणपणामं करेइ विणएणं।
मम्मण-मुहुरुल्लावा, भणइ य पवणजयं बाला।८५।

अज्ज चिय उदुसमओ, सामिय ! गब्भो कयाइ उयरम्मि।
होहो वयणिज्जयरो, नियमेण तुमे परोक्खेण।८६।

तम्हा कहेहि गन्तुं गुरूण गब्भस्स सभवं एय।
होहि बहुदीहपेही, करेहि दोसस्स परिहारं।८७।

अह भणइ पवणवेगो, मह नामामुद्दिय रयणचित्तं।
गेण्हसु मियङ्कवयणे !, एसा दोस पणासिहिइ।८८।

आपुच्छिऊण कन्ता, वसन्तमाला य गयणमग्गेणं।
नियय निवेसभवणं, पहसिय-पवणंजया पत्ता।८९।

धम्मा-ऽधम्मविवाग, सजोग-विओग-सोग-सुहभाव।
नाऊण जीवलोए, विमले जिणसासणे समुज्जमह सया।९०।

———

हिन्दी - अनुवाद

१. आचारांगसूत्र

उपधानश्रुत (१.६)

प्रथम उद्देशक :

१. उन श्रमण भगवान् (महावीर) ने उठकर और समझकर उस हेमन्त ऋतु मे दीक्षा ग्रहण करने के तत्काल बाद जिस प्रकार विहार किया था (उसको) जैसा मैंने सुना है (वैसा ही) मैं तुमसे) कहूँगा।

२ इस वस्त्र के द्वारा उस हेमन्त ऋतु मे (अपने अगो को) ढकूंगा, ऐसा नही था। (क्योकि) वे महावीर जीवन भर के लिये सासारिक वस्तुओं से पार हो चुके थे। किन्तु इस वस्त्र को महावीर के लिये (धारण करना) अनुगामिक था।

३ कुछ अधिक चार मास तक बहुत से प्राणी आकर भगवान् के शरीर पर चढकर (इधर-उधर) रेंगते थे तथा क्रोधित होकर उनके शरीर को डसते थे।

४ कुछ मास अधिक एक वर्ष तक भगवान् ने उस वस्त्र को नही त्यागा। उसके पश्चात् उस वस्त्र को त्याग दिया। त्याग करके वे अचेलक (वस्त्र रहित) अनगार (साधु) बने।

५ इसके पश्चात् पुरुष के प्रमाण के समान तिरछे भाग के ऊपर दृष्टि लगाकर उसके मध्य मे ध्यान रखते हुए (वे) गमन करते थे। तब भयभीत बहुत से बालक एकत्र होकर भगवान् को मार-मार कर कोलाहल करते थे।

६. गृहस्थ और अन्य धार्मिको से युक्त स्थान प्राप्त होने पर, वहाँ पर स्त्रियो को जानकर भगवान् महावीर उनका सेवन नहीं करते थे। वे स्वयं आत्मा मे प्रविष्ट कर ध्यान करते थे।

७ जो कोई गृहस्थ हैं उन्हे तथा उनके ससर्ग को छोडकर वे भगवान् ध्यान करते थे। पूछे जाने पर भी बोलते नही थे और चले जाते थे। ऐसे सयम-अनुष्ठान मे तत्पर महावीर मोक्षमार्ग का अतिक्रमण नही करते थे।

८ यह दूसरो के लिये सरल बात नही है कि अभिवादन किये जाने पर उनसे बोले नही। अत भगवान् महावीर को पुण्यहीन व्यक्तियो के द्वारा डण्डे से मारा जाता था और उनके शरीर को नोचा जाता था।

९. अत्यन्त तीक्ष्ण एव कठोर वचनो को वे पराक्रमी भगवान् कुछ नही गिनते थे। तथा आख्यात, नृत्य, सगीत, दण्ड-युद्ध एव मुष्टि-युद्ध को (भी नही देखते थे)।

१० ज्ञातृपुत्र भगवान् महावीर कल्पित मैथुन-कथाओ को सुनने पर भी उस समय हर्ष रहित होकर मध्यस्थ रहते थे। इस प्रकार इन उपसर्गों मे दूसरे की शरण न लेते हुए ज्ञातृपुत्र सयम मार्ग मे गमन करते थे।

११. दो वर्ष से कुछ अधिक समय तक सचित्त जल का सेवन न करके महावीर ने दीक्षा ग्रहण की थी। वे एकत्व भावना वाले होकर क्रोध की ज्वाला को शान्त कर सम्यक्त्व की भावना से युक्त और शान्त चित्त वाले थे।

१२-१३. पृथ्वीकाय, जलकाय, तेजकाय, वायुकाय, बीज एव हरे तृण आदि वनस्पतिकाय तथा त्रशकाय के जीवों को पूर्ण रूप से जानकर कि ये सब चेतनायुक्त हैं, ऐसा विचारकर और समझकर कि इनकी हिंसा से पाप होता है, ऐसा जानकर भगवान् महावीर उनकी हिंसा का त्याग कर विचरण करते थे।

१४ कर्मों के अनुसार स्थावर जीव त्रश रूप मे उत्पन्न होते हैं अथवा त्रश जीव स्थावर रूप मे। अथवा सब योनियो वाले अज्ञानी जीव (कर्मों के वशीभूत होकर) भिन्न-भिन्न योनियो मे जन्मते रहते हैं।

१५ भगवान् महावीर ने इस प्रकार समझ लिया था कि अज्ञानी और उपधि (कर्म) से युक्त जीव निश्चय ही क्लेश को प्राप्त होता है। कर्म को सब प्रकार से जानकर महावीर ने उन पाप कर्मों का त्याग कर दिया था।

१६ मेधावी एव केवलज्ञानी महावीर ने दो प्रकार के कर्मों को जानकर अनुपम सयम रूप क्रिया का कथन किया था। तथा सम्पूर्ण रूप से जानकर आदानस्रोत (इन्द्रियो), अतिपातस्रोत (हिंसा एव झूठ) तथा योगो (वचन एव काया की क्रियाएँ) को कर्म-बन्ध का कारण बताया था।

१७. जो (व्यक्ति) अहिंसा को पाप रहित जानकर स्वय हिंसा नही करता एव दूसरो से नही करवाता है तथा जिसने स्त्रियो को एवं सब पापों के कारणो को जान लिया है वही यथार्थदर्शी है।

१८. भगवान् महावीर ने आधाकर्मी (मुनि के लिये बनाया गया भोजन) आहार का सेवन नही किया था। क्योकि वे उसमे सब प्रकार से कर्मो का बध देखते थे। इसी प्रकार जो कुछ भी पाप का हेतु था उसको उन्होने नही किया। वे प्रासुक आहार का सेवन करते थे।

१९. महावीर दूसरे के वस्त्र (वस्तु) का सेवन नही करते थे। और दूसरो के पात्र मे भी वे नही खाते थे। वे अपमान को त्यागकर बिना किसी की सहायता से भोजन के स्थानो मे चले जाते थे।

२०. महावीर आहार पानी के परिमाण को जानते थे। वे रसो मे आसक्त नही होते थे। तथा (भोजन विशेष के लिये) प्रतिज्ञा नही करते थे। उन्होंने साधनाकाल मे कभी आँख को प्रमार्जित नही किया और न शरीर को भी खुजाया।

२१. महावीर तिरछे व पीछे न देखते हुए अपने मार्ग को देखते हुए ही प्रयत्नपूर्वक चलते थे। किसी के पूछने पर कुछ न बोलते हुए मौन रहते थे।

२२. अनगार महावीर शिशिर ऋतु के आरभ मे ही उस वस्त्र को त्यागकर भुजाओ को फैलाकर चलते थे किन्तु कधो का अवलम्बन लेकर नही।

२३ मतिमान् प्रतिज्ञा रहित उन महान् भगवान् महावीर ने अनेक प्रकार से इसी विधि का आचरण किया था। यही आचरण करना चाहिये, ऐसा मैं कहता हूँ।

द्वितीय उद्देशक :

२४. महावीर की चर्या मे जितने आसन और शय्याएँ कही गई हैं, जिन्हे उन महावीर ने सेवन किया था, उन शय्याओ और आसनों के विषय मे (आप मुझसे) कहे।

२५. महावीर कभी चारो तरफ दीवार वाले सूने घर मे, सभा एव प्याउ के स्थान में, दूकानो मे निवास करते थे। अथवा कभी बढई और लुहार आदि के कार्य करने के स्थान मे तथा पुवाल के नीचे निवास करते थे।

२६. कभी सराय मे, वगीचे मे वने हुए मकान मे और कभी नगर में निवास करते थे। तथा कभी श्मशान मे, सूने घर मे अथवा कभी वृक्ष के नीचे निवास करते थे।

२७ इस प्रकार मुनि श्रमण महावीर ने इन स्थानो मे लगभग तेरह वर्ष तक निवास किया था। वे रात दिन (सयम मे) यत्नवान् रहते थे। वे अप्रमादी एव स्थिर-चित्त होकर ध्यान करते थे।

२८ भगवान् महावीर निद्रा का सेवन नही करते थे। थोडी निद्रा सताने पर वे उठकर अपनी आत्मा को पूर्णतया जाग्रत रखते थे। किन्तु सोने की कभी इच्छा नही करते थे।

२९. प्रवुद्ध रहते हुए भगवान् महावीर को फिर भी यदि नीद सताती तो वे उठकर कभी-कभी रात्रि मे वाहर निकल कर मुहूर्त भर के लिये भ्रमण करने लगते थे।

३० महावीर जिन स्थानो मे ठहरते थे वहाँ अनेक प्रकार के भयकर उपसर्ग हुए थे। जो सरकने वाले प्राणी अथवा जो पक्षी आदि थे, वे समीप मे आकर उनको काटते थे।

३१ महावीर पर कभी चोर, लम्पट अथवा कभी हाथ में शस्त्र लिये हुए ग्रामरक्षक उपसर्ग करते थे। तथा कभी गाँव के स्त्री-पुरुष उन्हे कष्ट देते थे।

३२ महावीर इहलौकिक एव पारलौकिक, अनेक प्रकार के भयकर उपसर्गो को, सुगन्ध एव दुर्गन्ध को तथा भयकर शब्द सम्वन्धी अनेक प्रकार के कष्टो को सहन करते थे।

३३. महान् श्रमण महावीर सदा समिति से युक्त होकर अनेक प्रकार के कष्टो को समभाव पूर्वक सहन करते थे और अरति एव रति को हटाकर वहुत न वोलते हुए विचरण करते थे।

३४ कभी-कभी वहाँ पर रात्रि के समय अकेले घूमने वाले पुरुषो के द्वारा महावीर पूछे जाते थे। और उनके द्वारा कुछ न वोलने पर लोगो के द्वारा पीडित होते थे। परन्तु महावीर समाधी मे लीन रहते हुए अपने अपमान का वदला लेने की इच्छा नही करते थे।

३५. 'यहाँ इस मकान के अन्दर यह कौन है' ऐसा पूछने पर 'मैं भिक्षु हूँ' यह कहकर महावीर चुप हो जाते थे। (लोगो के क्रोधित होने पर उसे सहन कर) यह उत्तम धर्म है, यह जानकर महावीर ध्यान करते रहते थे।

३६. जिस शिशिर ऋतु मे लोग कापते हैं, उस शिशिर ऋतु मे हिमकणो से युक्त ठडी हवा चलती है तब अन्य दर्शन वाले कितने ही साधु वायु रहित स्थान को ढूँढते हैं।

३७. और कितने ही साधु यह सोचते हैं कि हम कम्बल आदि वस्त्रो मे प्रवेश करेंगे। अपने शरीर को ढककर शीत को सहन करेंगे। और शीत निवारण के लिये कुछ साधु काष्ट आदि जलाते हैं क्योकि शीत को सहन करना बड़ा कठिन है।

३८. उस शीत ऋतु मे सयम का पालन करने वाले भगवान् महावीर शीत को सहन करते थे। तथा शीत से बचने की इच्छा नही करते थे। वे प्राय· नीचे एव विकट स्थान मे ठहरते थे। कभी-कभी रात्रि के समय भगवान् बाहर निकलकर शान्ति-पूर्वक शीत को सहन करते हुए स्थित रहते थे।

३९. मतिमान् प्रतिज्ञा रहित महान् भगवान् महावीर ने बहुत बार इस विधि का आचरण किया था। इसी प्रकार आचरण करना चाहिये, ऐसा मैं कहता हूँ।

तृतीय उद्देशक :

४०. सदा समितियुक्त महावीर तृण-स्पर्श, शीत-स्पर्श, तेजस्पर्श और दशमसक-स्पर्श तथा नानाप्रकार के उपसर्गो को समभावपूर्वक सहन करते थे।

४१. तदनन्तर जहाँ विचरण करना कठिन है ऐसे लाढ देश की वज्रभूमि और शुभ्रभूमि मे महावीर ने विहार किया था। तथा वहाँ प्राप्त शय्याओ एव आसनो का उन्होने सेवन किया था।

४२. लाढ देश मे उनको बहुत उपसर्ग हुए थे। वहाँ रूखा-सूखा ही आहार मिलता था। वहाँ के लोग भगवान् को मारते थे। और वहाँ कुत्ते उन्हे काटते थे एव उनपर टूट पड़ते थे।

४३. उन झपटने वाले और काटने वाले कुत्तों का एकाध व्यक्ति ही निवारण करता था। अन्यथा बाकी सब लोग छू-छू शब्दो द्वारा कुत्तो को उत्साहित करते थे।

४४ उस लाढ देश की वज्रभूमि मे इस तरह के बहुत से मनुष्य कठोर थे। वहाँ पर दूसरे साधु लाठी अथवा लकडी लेकर चलते थे। महावीर ने ऐसे विकट देश मे बार-बार विहार किया था।

४५ उस देश मे इस प्रकार विहार करते हुए साधु कुत्तो द्वारा पीछे से काटे गये थे और नोचे गये थे। इसलिये उस लाढ देश मे विचरण करना कठिन था।

४६. अनगार भगवान् महावीर प्राणियो को दण्ड देना छोडकर अपने शरीर के महत्व को त्याग कर उन ग्रामवासियो के कठोर वाक्यो को परिषह जानकर सहन करते थे।

४७ जिस प्रकार हाथी युद्ध मे प्रहार करता हुआ शत्रु सेनाओ को पार कर जाता है उसी तरह उन महावीर ने (परिषह को सहन करते हुए) उस लाढ देश को पार किया था। कभी उस देश मे उनको गाँव भी नही मिलता था (ठहरने के लिये)।

४८ भिक्षा अथवा निवास के लिये जाते हुए प्रतिज्ञा रहित महावीर को गाँव के निकट न पहुँचने पर भी गाँव से निकलकर लोग मारते थे। और कहते थे कि यहां से दूर चला जा।

४९. वहाँ (उस देश मे) डण्डे से, मुष्टि से, भाले से अथवा मिट्टी के ढेले और टूटे हुए घडो के टुकडो से लोग महावीर को मारते थे। इस प्रकार मार-मार कर बहुत से लोग कोलाहल करते थे।

५०. वे अनार्य लोग कभी-कभी भगवान् का मास काट लेते थे। और कभी-कभी उनके शरीर को धक्का दे देते थे। कभी नाचते थे। अथवा उनके ऊपर धूली उछालते थे। महावीर ने इन सभी परिषहो को सहन किया था।

५१. वे अनार्य लोग महावीर को ऊपर उठाकर पृथ्वी पर पटक देते थे अथवा आसन से नीचे गिरा देते थे, किन्तु महावीर शरीर का ममत्व त्यागकर परिषह सहने वाले थे। भगवान् कष्टों को सहते थे और उनकी निवृत्ति के लिये प्रतिज्ञा रहित थे।

५२. संग्राम के अग्र भाग मे शूरवीर की तरह उस देश मे अपनी इन्द्रियों को संयमित रखने वाले वे महावीर उन कठोर परिषहो को सहते हुए अपनी साधना मे अचल होकर विचरण करते थे ।

५३ मतिमान निदान रहित महान् भगवान् महावीर ने बहुत वार इस प्रकार का आचरण किया था । इसी प्रकार का आचरण करना चाहिये, ऐमा मैं कहता हूँ ।

चतुर्थ उद्देशक .

५४. भगवान् रोगो से स्पृष्ट न होने पर भी अल्प भोजन करते थे । रोग होने या न होने मे चिकित्सा की अभिलाषा नही करते थे ।

५५. जुलाव, वमन, शरीर पर तेल मर्दन करना, स्नान करना, हाथ-पैर आदि दबवाना और दात साफ करना आदि (क्रियाएँ) शरीर को अशुचि जानकर वे नही करते थे ।

५६ वे महान् इन्द्रियो के विषय से पराङ्मुख थे । अल्पभाषी होकर विचरते थे । कभी भगवान् शिशिर ऋतु मे छाया मे ध्यान करते थे ।

५७. ग्रीष्म ऋतु मे (वे) तापाभिमुख होकर उत्कृष्ट आसन से वैठते और आतापना लेते । अनन्तर रूक्ष चावल, वेर का चूर्ण और उडद आदि से निर्वाह करते थे ।

५८. इन तीनो का ही सेवन करके भगवान् ने आठ मास व्यतीत किये । कभी भगवान् पन्द्रह-पन्द्रह और महीने-महीने तक जल नही पीते थे ।

५९ कभी दो-दो महिनो से अधिक छह-छह महीने तक भगवान् पानी तक नही पीते हुए रात-दिन निदान रहित होकर विचरते थे । और कभी-कभी आहार करते थे । वह भी ठडा आहार करते थे ।

६०. कभी नीरस आहार काम मे लेते थे । वे कभी दो दिन के वाद खाते अथवा तीन दिन वाद, चार दिन वाद, कभी पांच दिन बाद निरासक्त होकर समाधि का विचार कर आहार करते थे ।

६१. हेय, उपादेय को जानकर उन महावीर ने स्वय पाप कर्म नही किया, मन्य से नही कराया तथा करते हुए को अनुमोदन भी नही किया ।

६२. वे ग्राम या नगर मे प्रवेश करके दूसरो के लिये बनाये हुए आहार की गवेषणा करते। निर्दोष आहार प्राप्त कर भगवान् मन, वचन, काय को सयत करके उसका सेवन करते थे।

६३-६४-६५ अगर भूख से व्याकुल कौवे एव अन्य पानाभिलाषी प्राणी आहार की अभिलाषा मे सदा भूमि पर बैठे अथवा पडे हुए होते तो उनको देखकर अथवा ब्राह्मण, श्रमण, भिखारी, अतिथि, चाण्डाल एव बिल्ली और कुत्तो को सामने देखकर उनकी वृत्ति मे अन्तराय न डालकर उनकी अप्रीति के कारण को छोड़ते हुये, उनको थोडा भी त्रास न देते हुए भगवान् धीरे से आगे बढ जाते और (अन्यत्र) आहार की गवेषणा करते।

६६ आर्द्र हो चाहे सूखा हो, चाहे ठडा आहार हो, बहुत दिनो के पकाये हुए उडद हो, या पुराना सतुआ हो, उस आहार को भी वे ले लेते थे। आहार के मिलने पर अथवा न मिलने पर भगवान् समभाव रखते थे।

६७ वे महावीर भगवान् आसन मे स्थित हो, निर्विकार होकर समाधि का विचार कर कामनारहित होकर ध्यान करते थे। ध्यान मे उर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक के स्वरूप का विचार करते थे।

६८. कषाय रहित, आसक्ति रहित होकर तथा शब्द और रूप मे गिद्ध न होकर वे ध्यान करते थे। छद्मस्थ होते हुए भी सयम मे पराक्रम करते हुए एक बार भी उन्होने प्रमाद नही किया।

६९-७० स्वय ही तत्त्व को जानकर आत्मशुद्धि के द्वारा योगो को संयम करके वे कषायो से अतीत हुये। माया रहित हुये। भगवान् यावज्जीवन समितियो से समित थे।

---

२. उत्तराध्ययनसूत्र

विनयसूत्र (१)

१. संयोग से विमुक्त, अनागार, भिक्षु के विनय को क्रमश. प्रकट करूंगा। मुझे सुनो।

२. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश का पालन करने वाला, शुश्रूषा करने वाला तथा उसके इगित और आकार को जानने वाला है, वह 'विनीत' कहलाता है।

३. जो गुरु की आज्ञा और निर्देश को न पालने वाला, शुश्रूषा न करने वाला और उसके इगित एव आकार को न जानने वाला है, वह 'अविनीत' कहलाता है।

४. जैसे सटे हुए कानो वाली कुतिया सभी स्थानो से निकाली जाती है, वैसे ही दु शील, गुरु के प्रतिकूल चलने वाला एव वाचाल शिष्य (समुदाय से) निकाल दिया जाता है।

५. (जिस प्रकार) सूअर चाँवलो की भूसी को छोडकर विष्ठा खाता है, वैसे ही अज्ञानी (शिष्य) सदाचरण को छोडकर दु शील मे रमण करता है।

६. (उपर्युक्त) कुतिया एवं सूअर की तरह (दु शील) मनुष्य के अभाव (हीनभाव) को सुनकर अपनी आत्मा का हित चाहने वाला (शिष्य) स्वय को विनय मे स्थापित करे।

७ इसलिए विनय का आचरण करे, जिससे शील को प्राप्त करे। बुद्ध-पुत्र (आचार्य का प्रिय शिष्य) एवं लक्ष्य (मोक्ष) को प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला (शिष्य) कही से नही निकाला जाता।

८. (शिष्य आचार्य के समीप सदा) प्रशान्त रहे। वाचालता न करे। अर्थयुक्त पदो को सीखे एव निरर्थक पदो (कथाओ) को त्याग दे।

९. पण्डित (शिक्षार्थी) अनुशासित होने पर क्रोधित न हो, क्षमा का सेवन करे। क्षुद्र व्यक्तियो के साथ ससर्ग हास्य और क्रीडा न करे।

१०. क्रूर-व्यवहार न करे। बहुत न बोले। यथा समय अध्ययन कर के तत्पश्चात् अकेला ध्यान करे।

११. (विद्यार्थी, भिक्षु) सहसा चण्डालोचित कर्म करके उसे कभी भी न छिपाए। (अकरणीय कार्य) किया हो तो किया और नही किया हो तो न किया कहे।

१२ बिगडेल घोडे की तरह कोडे जैसे कठोर वचनो को (विनीत शिष्य) बार-बार न चाहे। सधे हुए घोडे की भाति कोडे को देखकर ही (गुरु के अनुशासन मात्र से) अशुभ प्रवृति को छोड दे।

१३. आज्ञा को न मानने वाले और अट-सट बोलने वाले कुशील (शिष्य) कोमल स्वभाव वाले (गुरु) को भी क्रोधी बना देते हैं। (गुरु की) इच्छानुसार चलने वाले और शीघ्र पटुता को प्राप्त करने वाले (शिष्य) दुष्ट अभिप्राय वाले (क्रोधित होने वाले गुरु) को भी प्रसन्न कर लेते हैं।

१४. बिना पूछे कुछ भी न बोले अथवा पूछने पर असत्य न बोले। क्रोध को असत्य (विफल) कर दे तथा प्रिय और अप्रिय को (समान रूप से) धारण करे।

१५ आत्मा का ही दमन (सयम) करना चाहिए। आत्मा ही दुर्दम है। दमित (सयमित) आत्मा ही इहलोक और परलोक मे सुखी होता है।

१६ मेरे द्वारा सयम और तप से आत्मा का दमन हो, यही श्रेष्ठ है। दूसरो के द्वारा बन्धन और वध से मैं दबाया जाऊँ, यह ठीक नही।

१७ लोगो के समक्ष अथवा अकेले मे वचन या कर्म से कभी भी प्रबुद्ध लोगो (आचार्यों) के प्रतिकूल आचरण न करे।

असंस्कृतम् (४)

१. जीवन सधानरहित (असस्कृत) है। प्रमाद मत करो। बुढापे को

प्राप्त व्यक्ति का कोई शरण नहीं होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण ग्रहण करेंगे, इसको जानो।

२. जो मनुष्य कुमति को स्वीकार कर पापकारी प्रवृत्तियो से धन का उपार्जन करते हैं, उन कामकाजी मनुष्यों को देख। वे धन को छोड़कर वैर से बंधे हुए नरक मे जाते हैं।

३. सेंध लगाते हुए संधिमुख पर ही पकड़ा गया चोर जैसे अपने कर्मों के द्वारा ही पाप करने वाला घोषित कर दिया जाता है उसी प्रकार इस लोक और परलोक मे प्राणी का किये हुए कर्मों से मोक्ष नही है।

४ संसारी प्राणी दूसरो (अपने बन्धु-जनो) के लिए जो साधारण कर्म (जीविका आदि) करता है, उस कर्म के फलभोग के समय वे बन्धुजन बन्धुता नही दिखाते।

५. प्रमत्त मनुष्य इस लोक अथवा परलोक मे धन से त्राण नही पाता। बुझे हुए दीपक वाले की भांति अनन्त_मोह वाला प्राणी पार ले जाने वाले मार्ग को देखकर भी नही देखता।

६ आशुप्रज्ञ पंडित सोए हुओं (अज्ञानियो) के बीच भी जागृत (बुद्धी-जीवी) रहे। (प्रमाद मे) विश्वास न करे। मुहूर्त (समय) घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्बल है। (अतः) भारण्ड पक्षी की भांति अप्रमत्त होकर विचरण करे।

७ पग-पग पर दोषो से भय खाता हुआ एवं थोडे से दोषो को बन्धन मानता हुआ चले। गुणो की उपलब्धि हो तब तक जीवन को पोषण दे। जब वह न हो तब विचार-विमर्शपूर्वक इस शरीर को ध्वस कर डाले।

८. शिक्षित और तनुत्राणधारी अश्व की भाँति स्वच्छन्दता के निरोध द्वारा व्यक्ति मोक्ष को प्राप्त करता है। पूर्व जीवन मे जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है वह उस अप्रमत्त-विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

९. वह (प्रमादी) पूर्व जन्म की भाँति बाद के जीवन मे भी अप्रमाद को नही प्राप्त करता। अगले जीवन मे अप्रमाद प्राप्त होगा यह शाश्वतवादियो का कथन है। आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के उपस्थित होने के समय (वह प्रमादी) विषाद करता है।

१०. कोई भी व्यक्ति विवेक को शीघ्र प्राप्त नही कर सकता। अत. आत्मा की रक्षा करने वाला महर्षि (मोक्षार्थी मुनि) काम भोगो को छोडे, लोक के स्वरूप को समभावपूर्वक जानकर, प्रमाद रहित होकर, सावधानपूर्वक विचरण करे।

११. वार-वार मोह-गुणो को जीतते हुए, सयममार्ग मे विचरते हुए साधु को अनेक प्रकार के प्रतिकूल स्पर्श (शब्दादि विषय) पीडित करते हैं, किन्तु वह उन पर प्रद्वेष न करे।

१२ (अनुकूल) स्पर्श विवेक को मन्द करने वाले और वहुत लुभावने होते हैं। वैसे स्पर्शों मे साधु मन को लगाये। क्रोध का निवारण करे। मान को दूर करे। माया का सेवन न करे। लोभ को त्यागे।

१३. जो वाह्यरूप से शुद्ध, निस्सार वचन बोलने वाले अन्य तीर्थिक हैं वे प्रेय और द्वेष से युक्त हैं, परतन्त्र हैं। ये 'अधर्म के हेतु हैं' ऐसा सोचकर उनसे दूर रहे। अतिम सास तक गुणो (सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र) की आराधना करे। एसा मैं कहता हूँ।

कापिलीयम् (८)

१ अध्रुव, अशाश्वत और दुख वहुल ससार में ऐसा कौन सा कर्म है, जिससे मैं दुर्गति मे न जाऊँ ?

२ पूर्व-सम्वन्धो का त्याग कर किसी भी वस्तु मे स्नेह न करे। स्नेह करने वाले के साथ भी स्नेह न करने वाला भिक्षु दोषो और प्रदोषो से मुक्त हो जाता है।

३. तव केवल ज्ञान और दर्शन से युक्त तथा विगतमोह मुनिवर ने सव जीवो के हित और कल्याण के लिए तथा उनकी (पाच सौ चोरो की) मुक्ति के लिए कहा।

४. भिक्षु कर्मवन्ध कराने वाले सभी ग्रन्थियो (परिग्रह) और कलह (क्लेश, कषाय) का त्याग करे। (ऐसा करने वाला) आत्मरक्षक मुनि सभी मनोज्ञ कामभोगो में दोष देखता हुआ उनमे लिप्त नही होता।

५ (आत्मा को दूषित करने वाले) भोगामिष (आसक्ति-जनक भोग) मे निमग्न, हित और श्रेयस् मे विपरीत वुद्धि वाला, अज्ञानी, मन्द और मूढ (जीव उसी तरह कर्मों से) वध जाता है, जैसे श्लेष्म मे मक्खी।

६. ये कामभोग कठिनता से छोडे जाते हैं, अधीर पुरुषो के द्वारा सहज त्यागयोग्य नहीं हैं। जो सुव्रती, साधु हैं वे दुस्तर कामभोगो को उसी प्रकार तर जाते हैं, जैसे वणिक समुद्र को।

७. हम साधु हैं, इस प्रकार कहते हुए अज्ञानी पुरुष प्राणवध को नही जानते। वे मन्द और मूढ पुरुष अपनी पापमयी दृष्टियो से नरक मे जाते हैं।

८ प्राण-वध का अनुमोदन करने वाला पुरुष कभी भी सर्वदुखो से मुक्त नही होता। उन आर्य तीर्थङ्करो ने ऐसा कहा है, जिन्होने इस साधु-धर्म की प्रज्ञापना की।

६ जो जीवो की हिंसा नही करता, उस त्रायी (छह काय के जीवो का रक्षक) मुनि को 'समित' (सम्यक् प्रवृत्त) कहा जाता है। उस व्यक्ति से पाप-कर्म वैसे ही दूर हो जाते हैं, जैसे उन्नत-प्रदेश से पानी।

१०. जगत् के आश्रित जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति मन, वचन और काया—किसी भी प्रकार—से दण्ड (हिंसा) का प्रयोग न करे।

११. भिक्षु शुद्ध एषणाओ को जानकर उनमे अपनी आत्मा को स्थापित करे। सयम–निर्वाह (यात्र) के लिए ग्रास (आहार) की गवेषणा करे। भिक्षा-जीवी रसो मे आसक्ति वाला न होवे।

१२. भिक्षु प्रान्त (नीरस), अन्न-पान, शीत-पिण्ड (ठडा आहार) पुराने उडद, सारहीन (भूसी आदि), रूखा या सत्तू का जीवन-यापन के लिए सेवन करे।

१३ जो लक्षण-शास्त्र, स्वप्न-शास्त्र और अग-विद्या का प्रयोग करते हैं, उन्हे साधु नहीं कहा जाता—ऐसा आचार्यों ने कहा है।

१४ जो इस जन्म मे जीवन को अनियन्त्रित रखकर समाधि-योग से परिभ्रष्ट होते हैं, वे काम-भोग और रसो मे आसक्त बने हुए पुरुष असुर-काय मे उत्पन्न होते हैं।

१५. वहाँ से निकलकर भी वे ससार मे बहुत पर्यटन करते हैं। वे प्रचुर कर्मों के लेप से लिप्त होते हैं। इसलिए उन्हे बोधि प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है।

१६ धन-धान्य से परिपूर्ण यह समूचा लोक यदि किसी एक को भी दे दिया जाय तो उससे भी वह सतुष्ट नही होता है। इतना अतृप्त (दुष्पूर) है यह आत्मा।

१७. ज्यो-ज्यो लाभ होता है, वैसे ही लोभ बढता है। लाभ से लोभ बढता है। दो माशे सोने से पूरा होने वाला कार्य करोड से भी पूरा नही हुआ।

१८ वक्ष मे ग्रन्थि (स्तनो) वाली, अनेकचित्त वाली तथा राक्षसी की भांति भयावह स्त्रियो मे आसक्त न हो, जो पुरुष को प्रलोभन मे डालकर उसे दास की भांति नचाती हैं।

१९ नारियो को त्यागने वाला अनगार उनमे आसक्त न हो। भिक्षु धर्म को अति मनोज्ञ जानकर उसमे अपनी आत्मा को स्थापित करे।

२०. इस प्रकार विशुद्ध प्रज्ञा वाले कपिल ने यह धर्म कहा। जो इसका आचरण करेंगे वे तरेंगे और उन्होने दोनो लोको को आराध लिया।

अप्रमाद-पद

१. महावीर—"रात्रियाँ बीतने पर वृक्ष का पका हुआ पान जिस प्रकार गिर जाता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन एक दिन समाप्त हो जाता है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

२ "कुश की नोक पर लटकते हुए ओस-बिन्दु की अवधि जैसे थोडी होती है वैसे ही मनुष्य-जीवन की गति है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

३ "यह आयुष्य क्षण-भगुर है, यह जीवन विघ्नो से भरा हुआ है, इसलिए हे गौतम! तू पूर्व सचित कर्म-रज को प्रकम्पित कर (दूर कर) और क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

४. "सब प्राणियो को चिरकाल तक भी मनुष्य-जन्म मिलना दुर्लभ है। कर्म के विपाक तीव्र होते हैं, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

५. "तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और श्रोत्र का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

६. "तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और चक्षु का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

७ "तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और घ्राण का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

८. "तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है केश सफेद हो रहे हैं और जिह्वा का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।"

९. "तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और स्पर्श का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।"

१०. "तेरा शरीर जीर्ण हो रहा है, केश सफेद हो रहे हैं और सब प्रकार का पूर्ववर्ती बल क्षीण हो रहा है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।"

११. "पित्त-रोग फोडा-फुन्सी हैजा और विविध प्रकार के शीघ्र घाती रोग शरीर का स्पर्श करते हैं, जिनसे यह शरीर शक्तिहीन और विनष्ट होता है, इसलिए हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।"

१२. यह मेरे पास है और यह नही है, यह मुझे करना है और यह नहीं करना है-- इस प्रकार वृथा वकवास करते हुए पुरुष को उठाने वाला (काल) उठा लेता है। इस स्थित मे प्रमाद कैसे किया जाय ?

१३ भृगु— "पुत्रो ! पहले हम सव एक साथ रहकर सम्यक्त्व और व्रतो का पालन करें फिर तुम्हारा यौवन वीत जाने के बाद घर-घर से भिक्षा लेते हुए विहार करेंगे।"

१४. भृगु-पुत्र— "पिता ! कल की इच्छा वही कर सकता है, जिसकी मृत्यु के साथ मैत्री हो, जो मौत के मुंह से वचकर पलायन कर सके और जो जनता हो— मैं नही मरूंगा।"

१५. जीवन साधा नही जा सकता, इसलिए प्रमाद मत करो। वुढापा आने पर कोई शरण नही होता। प्रमादी, हिंसक और अविरत मनुष्य किसकी शरण लेंगे—यह विचार करो।

१६. जैसे सेंध लगाते हुए पकडा गया पापी चोर अपने कर्म से ही छेदा जाता है, उसी प्रकार इस लोक और परलोक मे प्राणी अपने कृत कर्मों से ही छेदा जाता है। फिर हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा नही होता।

१७. ससारी प्राणी अपने बन्धु-जनो के लिए जो साधारण कर्म (इसका फल मुझे भी मिले और उनको भी—ऐसा कर्म) करता है, उस कर्म के फल-भोग के समय वे वन्धु-जन बन्धुता नही दिखाते उसका भाग नही बँटाते।

१८ आशुप्रज्ञ पडित सोए हुए व्यक्तियो के बीच भी जागृत रहे। प्रमाद में विश्वास न करे। मुहूर्त बटे घोर (निर्दयी) होते हैं। शरीर दुर्वल है। इसलिए भारण्ड पक्षी की भाँति अप्रमत्त होकर विचरण करें।

१९ शिक्षित (शिक्षक के अधीन रहा हुआ) और तनुत्राणधारी अश्व जैसे रण का पार पा जाता है, वैसे ही स्वच्छन्दता का निरोध करने वाला मुनि ससार का पार पा जाता है। पूर्व जीवन मे जो अप्रमत्त होकर विचरण करता है, वह उस अप्रमत्त विहार से शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त होता है।

२० जो पूर्व जीवन मे अप्रमत्त नही होता, वह पिछले जीवन मे भी अप्रमाद को नही पा सकता। "पिछले जीवन मे अप्रमत्त हो जायेंगे"—ऐसा निश्चय-वचन शाश्वतवादियो के लिए ही उचित हो सकता है। पूर्व जीवन मे प्रमत्त रहने वाला आयु के शिथिल होने पर, मृत्यु के द्वारा शरीर-भेद के क्षण उपस्थित होने पर विषाद को प्राप्त होता है।

२१. कोई भी मनुष्य विवेक को तत्काल प्राप्त नही कर सकता। इसलिए हे मोक्ष की एषण करने वालो! उठो! "जीवन के अन्तिम भाग मे अप्रमत्त वनेंगे"—इस आलस्य को त्यागो। काम-भोगो को छोडो। लोक को भली भाँति जानो। समभाव मे रमो। आत्म रक्षक और अप्रमत्त होकर विचरण करो।

भावना-पद (४८)

१. कादर्पी भावना, अभियोगी, भावना, किल्विषिकी भावना, मोही भावना तथा आसुरी भावना—ये पाँच भावनाएँ दुर्गति की हेतुभूत हैं। मृत्यु के समय ये सम्यग्-दर्शन आदि की विराधना करती हैं।

२. जो काम-कथा करता रहता है, दूसरों को हँसाने की चेष्टा करता

रहता है, शील, स्वभाव, हास्य और विकथाओ के द्वारा दूसरों को विस्मित करता रहता है, वह कांदर्पी भावना का आचरण करता है।

३. जो सुख, रस और समृद्धि के लिए मत्र, योग और भूतिकर्म का प्रयोग करता है, वह अभियोगी भावना का आचरण करता है।

४. जो ज्ञान, केवल ज्ञानी, धर्माचार्य, संघ तथा साधुओ की निन्दा करता है, वह मायावी पुरुष किल्विषिकी भावना का आचरण करता है।

५. जो क्रोध को सतत बढावा देता रहता है और निमित्त कहता है, वह अपनी इन प्रवृत्तियो के कारण आसुरी भावना का आचरण करता है।

६. जो शस्त्र के द्वारा, विष-भक्षण के द्वारा अग्नि मे प्रविष्ट होकर या पानी मे कूद कर आत्म-हत्या करता है और जो मर्यादा से अधिक उपकरण रखता है, वह जन्म-मरण की परम्परा को पुष्ट करता है—मोही भावना का आचरण करता है।

—

३. | प्रवचनसार

ज्ञान अधिकार (१)

१ यह जो मैं (कुन्दकुन्दाचार्य) देव, असुर, मनुष्य एव इन्द्रो से वन्दित घातियाकर्ममलो को जिन्होने धो दिया है, धर्म के कर्ता, तीर्थस्वरूप वर्द्धमान, महावीर को नमस्कार करता हूँ।

२ तथा मैं विशुद्ध स्वभाव वाले शेष तीर्थङ्करो को, समस्त सिद्धों को तथा ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप एव वीर्य से युक्त आचार का पालन करने वाले साधुओ को नमस्कार करता हूँ।

३. उन समस्त पञ्चपरमेष्ठियो को समुदाय रूप मे तथा प्रत्येक को अलग-अलग एव जो मनुष्य क्षेत्र मे स्थित अरहन्त हैं उनको नमस्कार करता हूँ।

४ समस्त अरहन्तो, सिद्धो, गणधर आचार्यों तथा उपाध्याय समूह को और वैसे ही साधुओ को नमस्कार करके (समताभाव धारण करता हू)।

५ उन पञ्चपरमेष्ठियो के विशुद्ध दर्शन, ज्ञान से प्रधान आश्रम को अच्छी तरह प्राप्त कर मैं साम्यभाव को धारण करता हूँ, जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है।

६. इस जीव के सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की प्रधानता पूर्वक सम्यक् चारित्र के पालने से देव, असुर एव चक्रवर्ती की सम्पदाओ के साथ-साथ निर्वाण की भी प्राप्ति होती है।

७. चारित्र ही धर्म है तथा जो धर्म है वही साम्यभाव है, ऐसा कहा गया है। मोह के क्षोभ से रहित आत्मा का जो भाव है वही समताभाव है।

८. द्रव्य जिस भाव से परिणमन करता है उस काल मे वह द्रव्य वैसा

हो जाता है, ऐसा कहा गया है। इसलिए धर्म भाव से परिणमन करता हुआ आत्मा धर्म-स्वरूप ही जानना चाहिये।

९. जब परिणमन स्वभावधारी यह जीव शुभ भाव से अथवा अशुभ भाव से परिणमन करता है तब (वह) शुभ अथवा अशुभ होता है। तथा जब शुद्ध भाव से परिणमन करता है तब निश्चित रूप से वह आत्मा शुद्ध होता है।

१०. पदार्थ पर्याय के बिना नही है, इस जगत् मे पर्याय बिना पदार्थ के नही है। अत द्रव्य, गुण, पर्याय मे ठहरा हुआ पदार्थ अपने अस्तित्त्व मे रहने वाला होता है।

११ धर्मभाव से परिणमन करता हुआ आत्मा यदि शुद्ध उपयोग सहित होता है तो वह निर्वाण सुख को प्राप्न करता है। और यदि शुभ उपयोग से युक्त होता है तो स्वर्ग के सुख को पाता है।

१२. अशुभ उपयोग के उदय होने से आत्मा दीन, दरिद्र मनुष्य, तिर्यञ्च तथा नारकी होकर बहुत अधिक (समय तक) ससार मे भ्रमण करता है।

१३. शुद्ध उपयोग के द्वारा जो सिद्ध हो गये हैं उनको अतिशय, आत्मा से उत्पन्न, विषयो से रहित, अनुपम, अनन्त तथा विघ्न रहित सुख होता है।

१४ अच्छी तरह पदार्थ और सूत्रों को जानने वाला सयम और तप से सयुक्त, वीतरागी एव सुख और दुख मे समता धारण करने वाला मुनि शुद्धोपयोग स्वरूप वाला कहा जाता है।

१५. जो विशुद्ध उपयोग वाला है ऐसा आत्मा स्वय ही आवरण, अन्तराय और मोह-कर्म की रज से विलग होकर ज्ञेय पदार्थों के अन्त को प्राप्त होता है (समस्त पदार्थों को जान लेता है)।

१६ तथा वह आत्मा स्वय ही आत्मा के स्वभाव को प्राप्त करता हुआ सर्वज्ञ, समस्त लोक का स्वामी तथा पूजनीय हो जाता है। अत. वह स्वयभू कहा गया है।

१७ जिनके विनाश रहित उत्पत्ति है तथा उत्पत्ति रहित विनाश है, उनके निश्चय ही ध्रौव्य, उत्पाद एव व्यय का समुदाय विद्यमान रहता है।

१८. किसी भी पर्याय से समन्न पदार्थ-समूह के उत्पाद और विनाश होता है तो भी पदार्थ निश्चित रूप से सत्ता रूप रहता है।

१९. वह (सर्वज्ञ आत्मा) घातिया कर्म को नाश कर अनन्त वीर्य, अतीशय तेज (ज्ञान-दर्शन) को रखता हुआ अतीन्द्रिय होकर केवलज्ञान और अनन्त सुख रूप परिणमन करता है।

२० तथा केवलज्ञानी के शरीर सम्बन्धी सुख अथवा दुःख नही होता है। क्योकि उसके अतीन्द्रियपना प्रकट हो गया है। इसलिए उसके अतीन्द्रिय ज्ञान और अतीन्द्रिय सुख ही जानना चाहिए।

२१ वास्तव मे केवलज्ञान मे परिणमन करने वाले आत्मा के समस्त द्रव्य और उनकी पर्यायें प्रत्यक्ष हो जाती हैं। वह केवली उन सब द्रव्यो और उनकी पर्यायो को अवग्रह–पूर्वक क्रियाओ के द्वारा (के अनुसार) नही जानता है (सबको एक साथ जानता है)।

२२. आत्मा के सब प्रदेशो द्वारा समस्त इन्द्रियो के गुणो से परिपूर्ण, अतीन्द्रिय तथा स्वय ही केवलज्ञान को प्राप्त आत्मा के लिए कुछ भी परोक्ष नही है।

२३ आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान ज्ञेय प्रमाण कहा गया है। ज्ञेय लोक और अलोक है। इस कारण से ज्ञान भी सर्वगत है।

२४-२५. इस जगत् मे जिस (दार्शनिक) के मत मे आत्मा ज्ञान प्रमाण नहीं होता है उसके मत मे वह आत्मा या तो ज्ञान से हीन (छोटा) अथवा अधिक (वडा) हो जाता है, यह निश्चय है। यदि वह आत्मा ज्ञान से छोटा है तब वह ज्ञान अचेतन होकर नही जानता है, अथवा ज्ञान से यदि आत्मा वडा है तब वह ज्ञान के विना कैसे जानता है ?

२६. तथा ज्ञानमयी होने के कारण गणधरो मे प्रधान जिनेन्द्र सर्वगत हैं उस (जिन) के ज्ञान के विषय को प्राप्त होने मे जगत् के सभी पदार्थ उस भगवान् मे व्याप्त कहे गये हैं।

२७ ज्ञान आत्मा है, ऐसा माना गया है। क्योकि ज्ञान आत्मा के विना (कही) नही रहता है। इसलिए ज्ञान आत्मरूप है। तथा आत्मा ज्ञान रूप भी है एव अन्य रूप भी है।

२८ निश्चय मे केवलज्ञानी आत्मा ज्ञानस्वभाव वाला है। तथा पदार्थ ज्ञेयस्वरूप है। उस ज्ञानी के वे पदार्थ चक्षुओ के भीतर रूपी पदार्थों की तरह परस्पर एक दूसरे मे प्रवेश नही करते है।

२९. इन्द्रियो से रहित ज्ञानी आत्मा, आँख की तरह पदार्थ के भीतर, ज्ञेय पदार्थों में प्रविष्ठ न होता हुआ तथा व्यवहार से प्रवेश करता हुआ निश्चित रूप से सम्पूर्ण जगत को देखता है एव जानता है।

३०. इस जगत् मे जिस प्रकार दूध मे डुबाया हुआ इन्द्रनील नामक रत्न अपनी चमक से उस दूध को भी तिरस्कृत करके अपने अस्तित्व को बनाये रखता है, उसी प्रकार ज्ञान पदार्थों मे स्थित रहता है।

३१. यदि वे पदार्थ केवलज्ञान मे न हो तो केवलज्ञान सर्वगत नही होगा। अथवा यदि ज्ञान सर्वगत है तो पदार्थ कैसे केवलज्ञान मे स्थित नही है? अर्थात हैं।

३२. केवली भगवान् पर द्रव्य को न तो ग्रहण करते हैं और न छोडते हैं तथा न (उसके अनुरूप) परिणमन करते हैं। तथापि वह (केवली) विना किसी को छोडे समस्त पदार्थो को एक साथ देखता है और जानता है।

३३. जो कोई निश्चय से श्रुतज्ञान के द्वारा स्वभाव से ही केवलज्ञान रूप (ज्ञायक) अपनी आत्मा को अच्छी तरह जानता है, उसको लोक के प्रकाश करने वाले ऋषिगण श्रुतकेवली कहते है।

३४. पुग्दलद्रव्य स्वरूप वचनो से जो जिनेन्द्र द्वारा उपदेश किया हुआ है, वह द्रव्यश्रुत है। निश्चय से उस द्रव्यश्रुत का जानना भावश्रुत ज्ञान है। और द्रव्यश्रुत को भी (व्यवहार से) ज्ञान कहा है।

३५. जो (आत्मा) जानता है वही ज्ञान है। आत्मा (भिन्न) ज्ञान के द्वारा जानने वाला ज्ञाता नही होता है। ज्ञान स्वय ही परिणमन करता है और समस्त ज्ञेय पदार्थ ज्ञान मे स्थित हैं।

३६ इसीलिये आत्मा ही ज्ञान है और तीन प्रकार से कहा जाने वाला द्रव्य ज्ञेय है। तथा परिणमनशील आत्मा और परद्रव्य (अनात्मा) द्रव्य कहलाता है।

३७. उन प्रसिद्ध जीवादिक द्रव्य जातियों की वे समस्त विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें निश्चय से ज्ञान मे भिन्न-भिन्न भेद लिये वर्तमानकाल सबधी पर्यायो की तरह प्रवर्तित होती हैं।

३८ जो पर्यायें उत्पन्न ही नही हुई हैं तथा जो निश्चय मे उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वे सब अतीत और अनागत पर्यायें वर्तमानकाल मे प्रत्यक्ष नहीं होती हैं। फिर भी केवलज्ञान मे वे प्रत्यक्ष हैं।

३९. और यदि केवलज्ञान के अनागत पर्यायें तथा अतीत पर्याये प्रत्यक्ष नही होती तो उस ज्ञान को दिव्यज्ञान कौन कहता है? अर्थात् कोई भी नही।

४० जो जीव इन्द्रियगोचर पदार्थ को इहापूर्वक जानते हैं, उन जीवो के लिये परोक्ष वस्तु को जानना अशक्य है, ऐसा कहा गया है।

४१ जो ज्ञान प्रदेश रहित कालाणु तथा परमाणुओं को, प्रदेश सहित पचास्तिकायो को, पुद्गलों को और आत्मा आदि अमूर्त पदार्थों को एव अनागत तथा अतीत की पर्यायो को जानता है, उस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहा है।

४२. यदि जानने वाला आत्मा ज्ञेय पदार्थ को परिणमन करता है तो उस आत्मा के क्षायिकज्ञान निश्चय से नही है, इसलिए जिनेन्द्र देव उस आत्मा को कर्म का अनुभव करने वाला ही कहते हैं।

४३. जिनवर देवो ने उदय अवस्था को प्राप्त हुए कर्मों के अंश अर्थात् कर्मों के भेद-प्रभेदो को निश्चयपूर्वक कहा है, उन उदयागत कर्मों मे निश्चय ही मोही, रागी अथवा द्वेषी व्यक्ति बन्ध को अनुभव करता है (भोगता है)।

४४ उन अरहन्तो के कर्मों के उदयकाल मे स्थान, आसन और विहार (ये तीनो शरीर की क्रियाएँ) एव धर्मोपदेश की क्रियाएँ स्त्रियो के (स्वाभाविक) कपट आचरण की तरह निश्चित होती हैं।

४५. अरहन्त तीर्थङ्कर पुण्य प्रकृति के फलस्वरूप हैं। तथा उनकी शरीर एव वचन की क्रिया कर्म के उदय से है। परन्तु वह क्रिया मोह, राग, द्वेष आदि भावो से रहित है इसलिए मोह कर्म के क्षय से वह उत्पन्न है (क्षयिकी) ऐसा कहा गया है।

४६ यदि वह आत्मा अपने स्वभाव से शुभ अथवा अशुभ परिणामरूप नहीं होता है तो सब जीवो को ससार ही नही होता।

४७ जो ज्ञान एक साथ वर्तमान, भूत एव भविष्य की पर्यायो को तथा अनेक प्रकार से विभिन्न रूपो मे समस्त पदार्थों को एकसाथ जानता है, उस ज्ञान के क्षायिक ज्ञान (कर्मों के क्षय से प्रकट हुआ) कहा कया है।

४८. जो पुरुष तीनो लोको मे स्थित अतीत, अनागत एवं वर्तमान सम्बन्धी पदार्थों को एक ही समय मे नही जानता है उस व्यक्ति के समस्त पर्यायो सहित एक द्रव्य को भी जानने की सामर्थ्य नही है।

४९. यदि अनन्त पर्याय वाले एक (आत्म) द्रव्य को निश्चयपूर्वक नहीं जानता तो वह जीव एक ही वार मे अनन्त सम्पूर्ण द्रव्यो के समूह को कैसे जान सकता है ?

५०. यदि आत्मा का ज्ञान पदार्थों को क्रम से अवलम्बन करके उत्पन्न होता है तो वह ज्ञान न ही नित्य होता है, न क्षायक और न सर्वगत होता है।

५१. केवलज्ञान तीनो कालो मे एकसा सब लोक मे प्रतिष्ठित नानाप्रकार के सब पदार्थों को एक ही वार मे जानता है। अतः निश्चित ही यह ज्ञान की महिमा है।

५२ केवलज्ञानी शुद्ध आत्मा उन पदार्थों को जानता हुआ भी जिस कारण निश्चय करके न तो परिणमता है, न ग्रहण करता है और न ही उन पदार्थों मे उत्पन्न होता है, उसी कारण से वह (आत्मा) नवीन कर्म बन्धो से रहित कहा गया है।

५३ पदार्थो मे जो इन्द्रियो की आधीनता से रहित ज्ञान है वह अमूर्तीक है और इन्द्रियजनित ज्ञान मूर्तीक है तथा इस तरह सुखकारी भी है। उन सुख के भेदो मे जो उत्कृष्ट है वह जानने योग्य है।

५४. देखने वाले व्यक्ति का जो ज्ञान अमूर्तीक द्रव्यो को और मूर्तीक पर्यायो मे इन्द्रियो से न ग्रहण करने योग्य प्रच्छन्न पदार्थों को समस्त रूप से जानता है तथा दूसरे ज्ञेय पदार्थों को भी जानता है, वह ज्ञान प्रत्यक्ष होता है।

५५. आत्म द्रव्य स्वय अमूर्त है, वह मूर्तिमान शरीर मे स्थित है। अतः उस मूर्त रूप से (इन्द्रियो से) ग्रहण करने योग्य मूत पदार्थों को ग्रहण करके वह जानता है। अथवा कभी उन मूर्तिक पदार्थों को नही जानता है।

५६. पाँचो इन्द्रियो के स्पर्श, रस, गंध, रूप तथा शब्द ये पांच विषय पुद्गल युक्त होते हैं। परन्तु वे इन्द्रियाँ उन पाँच विषयो को एक साथ ग्रहण नहीं करती है।

७७. पुण्य और पाप इन दोनो मे भेद नही है, ऐसा, इस प्रकार जो पुरुष नही मानता है वह मोह से ढका हुआ भयानक अन्तहीन इस ससार मे भ्रमण करता है।

७८ इस प्रकार पदार्थ के स्वरूप को जानने वाला जो जीव परद्रव्यो मे राग अथवा द्वेष को प्राप्त नही होता वह शुद्धोपयोगी होता है। तथा शरीर से उत्पन्न दुख को नष्ट करता है।

७९ पाप के आरम्भ को छोडकर अथवा शुभाचरण मे प्रवर्तित होता हुआ जो जीव यदि मोह, राग, द्वेष नही छोडता है तो वह शुद्ध आत्मस्वरूप को नही पाता है।

८० जो व्यक्ति द्रव्यगुण पर्यायो से अरहत को जानता है, वह अपने स्वरूप को जानता है तथा निश्चित रूप से उसी का मोह कर्म नाश को प्राप्त होता है।

८१. जिसका मोह दूर हो गया है ऐसा आत्मा अपने यथार्थ स्वरूप को प्राप्त करता हुआ यदि राग और द्वेष को त्याग देता है तो वह शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

८२. इस प्रकार पूर्व कथित विधि से कर्मों को नाश करने वाले वे सब अरहत देव भी उसी प्रकार उपदेश देकर मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। उन अरहत देवो को मेरा नमस्कार है।

८३. आत्मा का द्रव्य आदि पदार्थों मे जो अज्ञान भाव है वही मोह कहलाता है, उस मोह के आच्छादन से युक्त यह जीव राग अथवा द्वेष को प्राप्त कर दुखी होता है।

८४ मोह, राग अथवा द्वेषभाव से परिणमन करते हुए जीव के अनेक प्रकार का कर्मबन्ध होता है। इसलिए वे राग, द्वेषादि जड से ही क्षय करने योग्य हैं।

८५ पदार्थों मे जैसा को तैसा ग्रहण नही करना तथा तिर्यञ्च और मनुष्यो में करुणाभाव तथा सासारिक विषयो मे लिप्त रहना यह मोह के लक्षण हैं।

८६. प्रत्यक्ष आरहे प्रमाणो के द्वारा, जिनेन्द्र के शास्त्रों से पदार्थों को

जानने वाले व्यक्ति के निश्चित रूप से मोह का समूह नाश को प्राप्त होता है। अत आगम का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिये।

८७. द्रव्य, उन द्रव्यो के गुण, और पर्याय अर्थ के नाम से कहे गये हैं। उन गुण पर्यायो मे गुणपर्यायो का सर्वस्व आत्मा द्रव्य है, ऐसा उपदेश दिया गया है।

८८. जो पुरुष आत्मधर्म के उपदेश को पाकर मोह, राग और द्वेष भावों को घात करता है, वह बहुत थोडे समय मे सम्पूर्ण दु खो से रहित अवस्था को पाता है।

८९. जो जीव यदि निश्चय से ज्ञान स्वरूप परमात्मा को अपने द्रव्य स्वरूप से सयुक्त जानता है और पुद्गल को भिन्न जानता है, वह मोह का क्षय करता है।

९०. इसलिए यदि यह जीव स्वय को मोह रहित चाहता है तो वीतराग द्वारा कथित आगम से विशेष गुणो के द्वारा छह द्रव्यो मे से अपने आत्मा को एवं अन्य द्रव्यो को अच्छी तरह जाने।

९१. जो जीव निश्चय से मुनि अवस्था मे सत्ता सहित विशेषरूप से इन छह द्रव्यो का श्रद्धान नही करता, वह मुनि नही है। उस द्रव्यलिंगी मुनि से धर्म नही हो सकता।

९२. जो मोह रहित दृष्टि वाला (सम्यग्दृष्टि), आगमो मे प्रवीण (सम्यग्ज्ञानी) तथा रागभाव से रहित चारित्र मे रत है वह महात्मा श्रमण है, ऐसा विशेष रूप से कहा गया है।

---

४. | भगवती आराधना

मन-इन्द्रिय-कषाय विजय

१. दु खजनक मार्ग मे गिरा देने वाले अश्व एव वीलण नामक मछली की तरह मन को भी वश मे करना अत्यन्त कठिन है।

२ मन की प्रवृत्ति के कारण ही (ससारी) जीव हजारो दु खो को पाते हुए भयकर एव अशुभ गतियो से भरपूर इस अनन्त ससार मे परिभ्रमण करते हैं।

३. ज्ञानोपयोग रहित मनुष्य के द्वारा चित्त का निग्रह नही किया जा सकता। उन्मत्त चित्तरूपी हाथी के लिए ज्ञान अकुश के समान है।

४ जिस प्रकार अच्छी तरह प्रयुक्त विद्या (किसी) पिशाच को मनुष्य के अधीन बना देती है, उसी प्रकार अच्छी तरह प्रयुक्त ज्ञान मनरूपी-पिशाच को मनुष्य के वश मे कर देता है।

५. जिस प्रकार जगली उन्मत्त हाथी साकल से वश मे कर लिया जाता है वैसे ही मनरूपी हाथी ज्ञानरूपी साकल से वश मे कर लिया जाता है।

६ इसलिए उत्पथगामी मनरूपी मर्कट (वदर) को जिनेन्द्र के उपदेश मे सदा के लिए लगा देना चाहिए, जिससे वह किसी भी दोष को उत्पन्न न करे।

७ असवृत मन वाले मनुष्य के द्वारा इन्द्रियरूपी सर्प (उसी प्रकार) वश मे नही किये जा सकते, जिस प्रकार विद्या, मन्त्र और औषधिहीन मनुष्य के द्वारा आशीविष जाति के साप।

८ स्मरणरूपी पखों, चिन्तारूपी वेग, विषय-विष से लिप्त रतिधारा वाले

तथा मनरूपी धनुप से छोडे गये इन्द्रियरूपी वाण मनुष्य-मृग को वीध डालते हैं।

९. उत्पथगामी घोडे को जिस प्रकार लगाम से वश मे किया जाता है उसी प्रकार इन्द्रियरूपी विगडैल (दुर्दान्त) घोडे तत्त्वज्ञान रूपी लगाम से वश मे किये जाते हैं।

१०. विपय-अटवी मे इन्द्रियरूपी घोडो के द्वारा वहुत समय तक कुमार्ग मे भ्रमित वे पुरुष धन्य हैं जो (उन घोडो पर से) उतरकर जिनेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट निर्वाण-पथ की ओर जाते हैं।

११. क्रोध से मनुष्य भोह एव त्रिवली चढे हुए मुख वाला, निश्चल, अत्यन्त रक्त एव रूखी आखो वाला, राक्षस तथा मनुष्यो मे भयकर हो जाता है।

१२. (अन्य वस्तुओ को) जलाकर जैसे अग्नि स्वय जल जाती है, उसी प्रकार क्रोध मनुष्य को नष्टकर निराश्रय होकर स्वय नष्ट हो जाता है।

१३. रोप (क्रोध) शत्रु को लाभकारी, अपने वाधवो के लिए शोक का कारण तथा जिसमे वह निवास करता है उसके अपमान का हेतु होता है। अपने अधीन मनुष्य का नाश कर डालता है।

१४. क्रोध से मनुष्य रौद्र हृदय वाला एवं नारकी सदृश हो जाता है। (क्रोध आने पर) वह (किसी के) गुणो को नही देखता, गुणो की निंदा करता है तथा अकथनीय सभापण करता है।

१५. जैसे खलियान मे एकत्र किसान के वर्पभर के सारे अनाज को अग्नि का एक कण जला देता है, उसी प्रकार तपरूपी पुण्य (श्रमण के फल) को क्रोध।

१६. जैसे उग्र विप वाला कोई साप डाभ के तृण से आहत होकर क्रोध करता हुआ उसे डस कर क्षणभर मे निर्विष हो जाता है, वैसे ही साधक दूसरो पर क्रोधकर स्वय अपने गुणो से हीन हो जाता है।

१७. क्रोध से मनुष्य का अत्यन्त प्रिय व्यक्ति मुहूर्त भर मे शत्रु हो जाता है। क्रोधी मनुष्य का प्रसिद्ध यश भी अकार्य करने से नष्ट हो जाता है।

१८. अभिमानी सवका वैरी होता है। यानी इसलोक और परलोक मे कलह, भय, वैर, दु ख और अपमान को अवश्य ही प्राप्त होता है।

१९. निरभिमानी मनुष्य ससार मे स्वजन और सभी लोगो को सदा प्रिय होता है। और उसे ज्ञान, यश तथा धन की प्राप्ति होती है। वही अपने कार्य को सिद्ध कर सकता है।

२०. मृदुता के प्रयोग करने पर कभी कोई नुकसान नही होता। इसमे (विनय) निश्चित ही इस लोक और परलोक मे मनुष्य सम्पूर्ण कल्याणो को प्राप्त होता है।

२१. छोटा अपराध होने पर भी (मनुष्य) कपट से महान् दोप को प्राप्त होता है। अकेली माया ही हजारो सत्यो को नाश कर देती है (छिपा देती है)।

२२ जहा माया होती है वहा क्रोध, मान और लोभ स्वय एकत्र होते हैं। मायावी मनुष्य मे क्रोध, मद और लोभ से उत्पन्न सभी दोप होते हैं।

२३ लोभ से ग्रसित मनुष्य अनेक दोपो को प्राप्त होता है और पाप करता है। लोभाधीन मनुष्य न अपने कुटुम्ब की परवाह करता है और न अपनी।

२४ तृण मे लोभ पाप को उत्पन्न करता है, अन्य वस्तुओ मे तो क्या कहना? किन्तु मुकुटधारण किये हुए भी अलोभी व्यक्ति के पाप नही होता।

२५. लोभग्रस्त व्यक्ति के चित्त की पूर्त्ति तीनो लोक प्राप्त हो जाने पर भी नही होती, किन्तु अलोभी सन्तुष्ट व्यक्ति दरिद्र होने पर निर्वाण (पूर्णता) को प्राप्त होता है।

२६ कपाय से उन्मत्त मनुष्य ही उन्मत्त है, पित्त से उन्मत्त मनुष्य नही। क्योकि पित्त से उन्मत्त व्यक्ति ऐसे पाप नही करता जैसे कपाय से उन्मत्त व्यक्ति करता है।

२७ इन्द्रिय-कपाय रूपी चोर अच्छी भावनाओ रूपी साकल के द्वारा बाध दिये जाय तो वे (कपाय) साकलवद्ध चोरो की भाति विकार उत्पन्न नही करते।

२८. नित्य चचल रहने वाले एव तीनो कालो मे विषयो के अनुसरण करने मे पटु कषायरूपी वन्दरो को यति (मुनि) लोग सयमरूपी रस्सियो से बाध लेते हैं।

२९ इन्द्रिय-कपाय से युक्त वहुत प्रकार का ज्ञान भी वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे चीनी सहित होने पर भी विपयुक्त दूध नष्ट हो जाता है।

३०. जिनकी वैराग्य रूपी लगाम ढीली कर दी गई है ऐसे इन्द्रिय और कषाय रूपी दुर्दान्त घोडे मनुष्य को दु.ख देने वाले दोष रूपी ऊँचे-नीचे स्थानो पर निश्चय ही गिरा देते हैं।

३१ इन्द्रिय और कषाय रूपी दुर्दान्त घोडे जब वैराग्य रूपी लगाम से रोककर ध्यान रूपी कोडे से भयभीत किये जाते है तब वे दोषो से विषम स्थानों पर (मनुष्य को) नही गिराते है।

३२ इन्द्रिय एव कषाय रूपी सापो से डसे गये तीव्र वेदना से पीडित तथा ध्यान-सुख से वचित मनुष्य सयम रूपी जीव को त्याग देते हैं।

३३ जैसे आग इधनो से बढती है और इधन के विना बुझ जाती है, उसी प्रकार कषाय परिग्रह से बढती और परिग्रह के विना नष्ट हो जाती है।

३४. जैसे तालाब मे गिरा हुआ पत्थर नीचे पडे हुए कीचड को क्षुभित कर देता है, उसी प्रकार जीव भी प्रशात कषाय को धन आदि सग्रह क्षुभित कर देता है।

३५. उदंड, अत्यन्त चपल, परिग्रह के फल के लिए लालायित हृदय वाले तथा अनियन्त्रित कषाय-रूपी पापी वानर सयम रूपी बगीचे को नष्ट कर देते हैं।

३६. धैर्य का कवच पहिने हुए, उपशम रूपी बाणो और ज्ञान रूपी शास्त्रो वाले साधु इन्द्रिय और कषाय रूपी शत्रुओ को युक्तियो मे जीतने मे समर्थ हैं।

३७ सयम रूपी मनुष्य को खाने मे अत्यन्त आसक्त इन्द्रिय और कषाय रूपी व्याध वैराग्यरूपी लोहे के दृढ पिजरो द्वारा ही बाधे जा सकते हैं।

३८ किसी के अधीन न होने वाले, व्रत रूपी बधनगर्त मे डाले गये इन्द्रिय और कषाय रूपी हाथी विनय रूपी लगाम से बाधकर ही वश मे किये जा सकते हैं।

३९ शील रूपी साकल को उलघन करने की इच्छा करने वाले इन्द्रिय और कषाय रूपी हाथी धीर पुरुषो के द्वारा धैर्यरूपी आरा युगल के प्रहारो से ही वश मे किये जा सकते हैं।

४० निरकुश इन्द्रिय एव कषाय रूपी हाथी जब दु शील रूप वन की अभिलाषा करे तब उनको ज्ञान रूपी अकुश से ही वश मे किया जा सकता है।

४१. विषय रूपी वन मे चचल मनवाले, अज्ञानी इन्द्रिय और कषाय रूपी हाथी यदि प्रश्रम (शान्त स्वरूपी ज्ञान) मे लगा दिये जाय तो वे किसी दोष को उत्पन्न नही करेंगे।

---

५. | पद्मचरित

पवनंजय एवं अंजनासुन्दरी का भोगविधान अधिकार (१६)

१ मिश्रकेशीके वचनको याद करके रुष्ट पवनजयने निर्दोष और दुःखित मनवाली महेन्द्रकी पुत्री अजनासुन्दरीका परित्याग किया।

२ विरहाग्निसे तप्त शरीरवाली, फीकी आँखोवाली तथा बाँये हाथपर सिर थामे हुई वह वायुकुमारके बारेमे सोचती हुई नींद नही लेती थी।

३ अत्यन्त उत्कण्ठित तथा आँसुओसे सींचे जाने के कारण मलिन स्तनोवाली वह बाघसे डरी हुई हिरनीकी भाँति रास्ता देखती हुई बैठी रहती थी।

४ जिसके सब अग अत्यन्त क्षीण हो गये थे तथा कटिसूत्र एव कडे आदि आभूषण जिसके ढीले पड गये थे ऐसी वह अपने वस्त्रके भार से बहुत अधिक खेद अनुभव करती थी।

५ दर्प एव उत्साह नष्ट होनेपर उसके प्रत्येक अगमे पीडा हो रही थी। इस प्रकार शून्यहृदया वह असम्बद्ध वचन बोला करती थी।

६. प्रासादतल मे रहने पर भी वह स्त्री बार-बार मूर्च्छित हो जाती थी। शीतल पवनका शरीर से स्पर्श होने पर वह बाद मे आश्वस्त की जाती थी।

७ मृदु, मधुर एव अव्यक्त वाणी से वह दीनवचन कहती थी कि, हे महायश! मैंने तुम्हारा स्वल्प भी अपराध नही किया है।

८ तुम क्रोधका त्याग करो और मुझपर अनुग्रह करो। ऐसे निष्ठुर मत बनो। प्रणिपात करनेवाली महिलाओपर पुरुष तो प्रेम करते हैं।

९. ये तथा दूसरे दीनवचन कहती हुई उस महेन्द्रपुत्री अंजनाने बहुत काल विताया।

१०. इस बीच बलके कारण दर्पयुक्त रावण और वरुण दोनोमे विरोध जगा और बादमे अतिभयकर लडाई शुरू हुई।

११-१२ लकाधिप रावणने शीघ्र ही वरुणके पास दूत भेजा। वहाँ जाकर और प्रणाम करके आसनपर वैठे हुए उसने कहा कि, विद्याधरोके स्वामी हे वरुण! रुष्ट रावणने तुमसे कहा है कि या तो तुम स्पष्ट रूपसे प्रणाम करो या युद्ध मे समक्ष खडे रहो।

१३. इसपर हँसकर वरुणने कहा कि, हे अधम दूत! रावण कौन है? न तो मैं उसे सिरसे प्रणाम करूँगा और न उसकी आज्ञा शिरोधार्य करूँगा।

१४. मैं न तो वह वैश्रमण हूँ, न यम और न सहस्रकिरण जो दिव्य शस्त्रो मे भयभीत और दीन हो तुझे प्रणाम करूँगा।

१५. इस प्रकार कठोर वचनो द्वारा वरुण से उलहना पाये हुए दूतने रावणके पास जाकर जैसा वरुणने कहा था वह सब कह सुनाया।

१६ दूतका वचन सुनकर रुष्ट लकेश रावणने ऐसा कहा कि दिव्यास्त्रोके बिना ही मैं वरुणको अवश्य जीतूँगा।

१७ इसके पश्चात् सम्पूर्ण सेनासे युक्त हो दशाननने प्रयाण किया और मणि एव सुवर्णसे विचित्र प्राकारवाले वरुणपुरके पास आ पहुँचा।

१८ रावणको आया जान युद्धके लिए परिपूर्ण उत्साहवाला वरुण पुत्र एवं सैन्यके साथ सामना करनेके लिए बाहर निकला।

१९ राजीव, पुण्डरीक आदि बत्तीस हजार पुत्र तैयार हो तथा कवच धारण करके राक्षस सुभटोका सामना करने लगे।

२०. एक-दूसरे के तोडे जाते शस्त्रोसे सकुल, अग्निमे से उठनेवाली चिनगारियोसे व्याप्त तथा जिसमे अच्छे-अच्छे सुभट गिर रहे हैं ऐसा अत्यन्त भयकर युद्ध होने लगा।

२१. बाण, शक्ति, तलवार, तोमर, चक्र, आयुध एव मुग्दर हाथमे लिये हुए रथ, हाथी एवं घोडो पर आरूढ योद्धा सामने जाकर युद्ध मे जूझने लगे।

२२. गिरे हुए घोडे हाथी एव योद्धाओ वाले वरुणसैन्यको भग्न और भागते देख जलका स्वामी वरुण सामने आया।

२३. वरुणके द्वारा सैन्यका भग और पीछे हटना देख रावण रोषवश बाणो का समूह छोडता हुआ आगे बढा।

२४. जब वरुण और रावणका भयकर महायुद्ध हो रहा था उस समय वरुणके पुत्रोने खरदूषणको युद्धमे पकड लिया।

२५ दूषण पकडा गया है ऐसा देखकर मन्त्रियोने उस रावणसे कहा कि हे प्रभो! आप लडते रहेगे तो कुमार अवश्य मारा जायगा।

२६ मन्त्रियोके साथ निश्चय करके राक्षसाधिपति रावण खरदूषणके जीवनके लिए रणमेसे वापस लौटा।

२७ पातालपुरमे वह आ पहुँचा और सब सामन्तो को इकट्ठा किया। प्रह्लाद खेचरको बुलानेके लिए भी शीघ्र एक आदमी भेजा।

२ जा करके और प्रणाम करके प्रह्लाद राजासे उसने रावणका सम्बन्ध, रावण और वरुणका युद्ध तथा दूषणका पकडा जाना, जैसा हुआ था वैसा, कह सुनाया।

२९ वापस लौटा हुआ और सामन्तोसे युक्त पातालपुर स्थित महात्मा राक्षसपति रावण आपसे मिलना चाहता है और इसीलिए मुझे भी आपके पास भेजा है।

३० यह वचन सुनकर प्रह्लाद उसी समय जानेके लिए तैयार हुआ। यह देखकर पवनजयने उसे रोका और कहा कि आप यही पर विश्वस्त होकर ठहरें।

३१ हे स्वामी! मेरे रहते आप जानेकी तैयारी क्यो करते हैं? मैं आपके अधीन हूँ। मुझे यह आलिगनका फल दें, अर्थात् मुझे आलिगनपूर्वक जानेकी अनुमति दें।

३२ राजाने कहा कि तुम अभी बच्चे हो। तुमने अबतक कभी लडाई नही देखी। पुत्र! तुम अपना खेल खेलते हुए घर पर ही रहो।

३३ इसपर पवनजय ने कहा कि, हे तात! आप ऐसा मत कहें कि मैं

वच्चा हूँ और लडाई कभी नही देखी। क्या मदोन्मत्त हाथीको सिंहका वच्चा नही मारता।

३४ तव प्रह्लाद राजाने पवनवेगको जानेकी अनुज्ञा दी और कहा कि, हे पुत्र! तुम राजाओ पर विजय प्राप्त करनेवाले हो!

३५ पिताको सिरसे प्रणाम करके तथा माताकी अनुमति लेकर आभूषणोसे भूषित शरीरवाला वह अपने महलमेसे वाहर निकला।

३६ नगरमे एकदम कोलाहल मच गया कि पवनवेग जा रहा है। ऐसा शब्द सुनकर अजना भी तत्काल वाहर आई।

३७. अत्यन्त स्नेह फैलाती तथा स्तभका सहारा लेकर पतिको निहारती उस स्त्री अजनासुन्दरीको लोगोने सुन्दर शालभजिका पुतली जैसी देखा।

३८. पुलकित होकर कमलदलके समान नेत्रो द्वारा राजमार्गमे उस कुमार को देखती हुई वह महेन्द्रतनया अजना सुन्दरी तृप्त नही होती थी।

३९. उस समय पवनजयने भी प्रासादतल पर खडी होकर देखनेवाली उस अजनाको उद्वेगप्रद उल्काकी भाँति देखा।

४० उसे देखकर जिसके शरीरमे रोष फैल गया है ऐसे पवनगतिने रुष्ट होकर कहा कि यह कितनी निर्लज्जता है कि तुम मेरे सामने उपस्थित हुई हो।

४१. इसपर हाथ जोडकर और उसके चरणोमे प्रणाम करके उपालम्भ देती हुई वह कहने लगी कि, हे स्वामी! आप प्रवास पर जा रहे हैं। हे नाथ! जाते समय आपने सव परिजनोके साथ सम्भाषण किया। अन्यमनस्क आपने पापी मेरे साथ तो वात भी नही की।

४२-४३. इसमे सन्देह नही कि मेरा जीवन और मरण भी आपके अधीन है। यद्यपि आप प्रवास मे जा रहे हैं, फिर भी मैं तो याद करती रहूँगी।

४४. इस प्रकार जव वह प्रलाप कर रही थी तव पवनगति मत्त हाथीके ऊपर सवार होकर नगरमेसे वाहर निकला और मानसरोवरके पास आ पहुँचा।

४५. विद्याके वलसे वहाँ घर तथा शैय्या आदिसे युक्त आवासस्थानकी रचना की। उस समय सूर्य भी क्रमश. परिभ्रमण करता हुआ अस्ताचल पर आ गया।

४६. सध्या के समय भवन के गवाक्ष मे स्थित होकर पवनगतिने निर्मल एव उत्तम जलसे परिपूर्ण उस सुन्दर सरोवर को देखा ।

४७. मत्स्य, कच्छप, सारस एव हसोसे उसकी तरगें चचल हो रही थी। सहस्त्रदल कमलोमे गु जारव करनेवाले भ्रमरोसे वह छाया हुआ था ।

४८. अतिदारुण प्रतापवाले राजाकी भाँति दीर्घकाल पर्यन्त राज्य करके वह सूर्य अवसान के समय अस्त हो गया ।

४९. दिवसमे विकसित और भ्रमरकुलने जिनके दलोका त्याग किया है ऐसे कमल सूर्यके विरहसे दु खित होकर सकुचा गये ।

५०. हस आदि जो पक्षी उस सरोवरमे क्रीडा करते थे वे भी सध्याकाल देखकर अपने-अपने स्थानो मे चले गये ।

५१. वहाँ पवनजयने अत्यन्त व्याकुल मनवाली, ताजे विरहरूपी अग्नि से तपे हुए शरीरवाली तथा अनेक प्रकार की चेष्टा करनेवाली एक चकवीको देखा ।

५२. वह ऊँचे जाती थी, चलती थी, काँपती थी, जमुहाई खाती हुई पर फडफडाती थी, तटवर्ती पेड पर बैठती थी और फिर पानी मे डुबकी मारती थी ।

५३. प्रियकी आशका से चचुप्रहार करती हुई वह कमलसमूहमेसे होकर चलती थी और प्रतिध्वनि सुनकर एकदम आकाशमार्गमे उड जाती थी ।

५४. प्रियके विरहमे अत्यन्त दु खित उस चकवीको देखकर उसमे लगे हुए मनवाले पवनजयको चिरकालसे परित्यक्त अजनासुन्दरी की याद आई ।

५५ वह कहने लगा कि अफसोस है कि मूढ, अकार्यकारी और पापसे भारी मैंने बाईस साल से उसे छोड दिया है ।

५६. जैसे यह चकवी अपने प्रियके विरहसे अत्यन्त दु खी हो गई है वैसे ही मेरी वह अत्यन्त दीनवदना प्रियतमा समय व्यतीत करती होगी ।

५७. यदि उसकी दुष्ट सखीने कानोके लिए असुखकर कहा तो मैंने क्यो दोषरहित उस विशाल नेत्रोवालीको छोड दिया ।

५८. ऐसा सोचकर पवनकुमारने प्रहसितसे कहा कि चकवीको देखकर मुझे मेरी पत्नी अजना याद आई है ।

५९ आते हुए मैंने पालेसे पीडित पद्मिनी की भाँति श्री एव सौभाग्यसे रहित उसे महलमे खडी होकर अवलोकन करती हुई देखा था।

६०. हे सत्पुरुष ! समय विताये विना ही तुम आज कोई ऐसा उपाय करो जिससे चिरकालीन विरहसे दु खित अजनाकुमारीको मैं देख पाऊँ।

६१. कार्यके महत्त्वको जानकर मित्र प्रहसितने पवनगतिसे कहा कि वहाँ जानेके अलावा दूसरा कोई उपाय मैं नहीं देखता।

६२ पवनजयने मुग्दर नामक अमात्यको शीघ्र ही बुलाकर और सेनाधिपतिके पद पर स्थापित करके कहा कि मै मेरुकी ओर जाता हूँ।

६३ चन्दन ए। पुष्प हाथमे धारण करके वे दोनो आकाशमार्गसे प्रयाण करते हुए जल्दी ही अजनाके भवनके पास आ पहुचे।

६४ बादमे पवनवेगको घरके आगेके हिस्से मे रखकर प्रहसितने भीतर प्रवेश किया। अंजनासुन्दरीने उसे सहसा देखा।

६५. उसने पूछा कि तुम कौन हो ? किसलिए यहाँ आये हो ? तब उसने प्रणाम करके कहा कि मैं पवनवेगका मित्र हूँ।

६६ हे सुन्दरी ! तुम्हारा वह प्रिय यहाँ आया है। उसने तत्काल ही यहाँ मुझे भेजा है। मेरा नाम प्रहसित है। हे स्वामिनी ! तुम सन्देह मत करो।

६७. स्वप्न के समान पवनजय के आगमनकी बात सुनकर अजनाने कहा कि, हे प्रहसित ! तुम क्यो मजाक कर रहे हो ? मैं कृतान्त (यम, मृत्यु) द्वारा उपहसनीय हुई हूं।

६८. अथवा तुम्हारा क्या दोष है ? मेरे पूर्वकर्मोका ही दोष है कि मैं प्रियसे तिरस्कृत हुई हू, सब लोगो से अपमानित हुई हूँ।

६९. इस पर प्रहसितने कहा कि, हे स्वामिनी ! तुम इस तरह दु खी मत हो। तुम्हारा वह हृदयस्थ इसी भवनमे आया हुआ है।

७०. वसन्तमालाने दूसरे कक्षमे स्थित पवनजयकुमारको प्रणाम करके शयनगृहमे दाखिल किया।

७१. प्रियको देखकर अजनाकुमारी सहसा खड़ी हो गई और सिर झुकाकर उसके चरणोमे प्रणाम किया।

७२ पवनजय पुष्पोकी चादरसे आच्छादित रत्नमय पलगके ऊपर वैठा। हर्षवश रोमाचित शरीरवाली अजना उसके पास वैठी।

७३ विनोदपूर्ण बातें और विविध प्रकारकी कथाए कहनेवाली वसन्तमाला प्रहसित के साथ दूसरे कक्ष मे ठहरी।

७४ तब पवनवेगने कहा कि, हे सुन्दरी! अकार्यकारी मैंने जो तुम्हे दुखित किया है उस मेरे हजारो अपराधके समूहको क्षमा करो।

७५ इसपर महेन्द्रतनया अजनासुन्दरीने कहा कि, हे नाथ! इसमे तुम्हारा कोई अपराध नही है। मनोरथ के फलको याद करके अब आप स्नेह वहावे।

७६. तब पवनजय ने कहा कि हे सुन्दरी! सब अपराधोको भूल जाओ और सुप्रसन्न हृदयवाली हो। मैंने तुम्हे यह प्रणाम किया।

७७ कमलदलके समान कोमल शरीरवाली अजनाका आलिगन किया। अनिमेष नयनो से वह प्रियके वदनका अनुरागपूर्वक पान करने लगी।

७८. प्रगाढ स्नेहसे भरे हुए तथा अनुराग के कारण प्रसारप्राप्त—खिले हुए उन दोनोमे अनेक प्रकारके प्रिय कर्मोका जिसमे विनियोगकिया जाता है ऐसा सुरतकर्म हुआ।

७९. आलिगन, चुम्बन, रति एव उत्साह गुणोसे अतिसमृद्ध, विरहका दुख जिसमे उपशान्त हो गया है तथा मनको सन्तोष हो इस प्रकार जिसमे यथेच्छ रजन किया गया है ऐसा वह सुरतोत्सव था।

८०. सुरतोत्सव समाप्त होनेपर खेद एव आलस्य से युक्त अगवाले वे दोनो एक दूसरेकी भुजाओके आलिगन सुखमे लीन हो सो गये।

८१ इस प्रकार सुरतसुखके आस्वादके वाद सोये हुए उनकी रात, जिसमे थोडा ही समय वाकी रहा था, बीत गई।

८२ प्रातःकालमे जगे हुए मित्र प्रहसितने पवनगतिसे कहा कि, हे सुपुरुष! जल्दी उठो। छावनी की ओर प्रयाण करें।

८३. मित्रका वचन सुनकर पवनवेग शय्यामेंसे उठ खडा हुआ और पत्निको आलिगन करके कहा कि मेरा कहना सुनो।

८४. जबतक मे रावणका दर्शन करके शीघ्र ही वापस आता हूँ तबतक तुम विश्वस्त होकर यहाँ रहो और मनमे उद्वेग मत धारण करो।

८५-८६. तब विरहदु:खसे भीत उस बालाने विनयपूर्वक चरणोमे प्रणाम करके प्रेमपूर्ण और मधुर स्वरमे पवनजयसे कहा कि, हे नाथ! आज ऋतुकालमे शायद उदरमे गर्भ रहा हो। निश्चय ही तुम (लोगोकी दृष्टिमे) परोक्ष हो, अत वह मेरे लिए निन्दनीय ही होगा।

८७ अत: गुरुजनोके पास जाकर इस गर्भकी सम्भावनाके बारेमे कहो। बहुत दूरकी बात देखनेवाले बनो अर्थात् दीर्घदृष्टि बनो और दोषका परिहार करो।

८८ इसपर पवनवेगने कहा कि, हे चन्द्रमुखी! तुम मेरे नामसे अकित यह रत्नखचित मुद्रिका लो। यह दोषका नाश करेगी।

८९. पत्नी तथा वसन्तमालाको पूछकर और गगनमार्गसे प्रयाण करके प्रहसित एव पवनजय अपने पडावके भवनमे आ पहुँचे।

९०. धर्म एवं अधर्म के फलस्वरूप सयोग एव वियोग तथा सुख एवं दु:ख इस जीवलोकमें होते हैं ऐसा जानकर विमल जिनशासनमे तुम उद्यमशील बनो।

शब्द-कोश

अइयच्चे—सहनकर
अइवत्तिय—पाप रहित
अक्खातीदस्स—इन्द्रिय से अगोचर
अञ्जु—राग-द्वेष से रहित
अणाउट्टि—हिंसा से विरति
अणासवा—आज्ञा न मानने वाला
अट्ठो—पदार्थ
अतर—समुद्र को
अदक्खू—यथार्थदर्शी
अदुव—अथवा
अमइ—अमति (गलत सिद्धान्त)
अमाइल्ले—माया रहित
अपडिण्णे—निदान रहित
अप्पा, आदा—आत्मा
अपुट्ठे—अस्पृष्ट होने पर
अव्वाहिए (अव्याहृते)—उत्तर न देने पर
अव्वुच्छिण्ण—वाधा रहित
असखयं—सधान रहित
आइण्णे—विनीत घोडा
आणिहुद—असयमित
आययजोग—मन-वचन-काय के योगो को
आरुसियाण—क्रोधित होना
आवकहाए—जीवन-पर्यन्त

आसीविसा—तीव्र विप वाले (सांप)
आसुपन्ने (आशुप्रज्ञः)—तीक्ष्ण वुद्धि वाला
आहट्टु—कहकर
आहमु—उत्साहित करते थे

अहाकड—मुनि के लिए वनाया गया भोजन

इक्क (कस्मै)—किसी को

उग्गद—प्रगट होती है
उग्गहपुव्वाहि—अवग्रहपूर्वक (क्रमश)
उड्डहणो—उत्पथगामी
उदिण्णतण्हा—उदीर्ण तृष्णा
उरालाइ—उपसर्गो को
उवकरिसु—उछालते थे
उववायकारए—शुश्रुषा करने वाला

एसति—ढूंढते हैं

ओदइया (औदयिकी)—कर्म के उदय से

कखे—इच्छा करे
कडा—वाण
कण्णू—किसकी

कट्टु—करके
कप्पिया—परिवर्तित होते हैं
कसिण (कृत्स्नम्)—समस्त
कासी—करे
कुचरा—दुराचारी
कुव्वेज्जा (कुर्वीत)—कर दे

खलिण—लगाम
खाइग – क्षायिक
खुड्डेहिं सह—क्षुद्र व्यक्तियो के साथ
खेलंमि (क्ष्वेले)—चिकनाई मे
खोभेइ—क्षुभित करता है

गंड (ग्रंथि)—फोडे के समान आकार वाले (स्तन)
गंथो—परिग्रह
गदि (गति)—नरक, तिर्यंच, मनुष्य एव स्वर्ग गतिया
गलियस्से—अविनीत घोडा
गामधम्मेहिं—इन्द्रियो के विषयो से
गाम पिंडोलग—भिखारी

घासमेसे—आहार की गवेषणा करते थे
घोरा मुहुत्ता—भयंकर मृत्यु-काल

छंद – स्वच्छन्दता

जमलार—आरा युगल
जम्हा (यस्मात्)—जिस से
जयमाणे—यत्नवान् रहते थे
जायाए (यात्रार्थं.)—सयम निर्वाह के लिए

झाणसुक्खा– ध्यान रूपी आनन्द

णादि—जानता है

णिग्घेतुं—वश मे करना

निन्हविज्ज—न छुपाये
नियागट्ठी—मोक्ष का अर्थी
निरय—नरक
निवइंसु—झपटते थे
निव्वुदी—शुद्धी
निसन्ते—प्रशान्त रहने वाला

णिस्सारो—गुणो से हीन
नेयाउंय (नैर्यात्तिक)—पार ले जाने वाले मार्ग को

णेरइयो—नारकी

तस (त्रश)—दो से पाच इन्द्रिय वाले जीव
ताई (त्रायी)—आत्म-रक्षक
तिहा (त्रिधा)—तीन प्रकार से
तेइच्छं—चिकित्सा

थावर—एक इन्द्रिय वाले जीव

दलेज्ज (दद्याद्)—दे दिया जाय
दुगुच्छमाणो (जुगुप्समान)—निर्लिप्त रहते हुए
दुद्धज्झसिय—दूध मे डूबा हुआ

धिदि—धैर्य

पंत (प्रान्त)—नीरस
पकरेंति (प्रकुर्वन्ति)—कर देते हैं
पडिणीए—प्रतिकूल आचरण करने वाला
पडिलेहे—विचार कर
पडियाइक्खे—त्याग कर दिया था
पडुच्च—आश्रय करके
पन्नत्तो (प्रज्ञप्त)—प्रगट किया

पधिदो—प्रसिद्ध
पप्पा (प्राप्ता)—उपस्थित
परज्झा (परवशा)—राग-द्वेष से ग्रस्त
पलियट्ठाणेसु—लोह कर्म-शाला
पलेहि—चले जाओ
पसमे—शान्त होने पर
पहाय—छोडो
पिहियच्चे—शान्त कर
पिहिस्सामि—अगों को ढकूँगा
पुलाग—रूखा
पुव्व सजोग—ससार का सम्बन्ध
पेसल—मनोज्ञ

वडए—बोलते थे

लेलुणा—मिट्टी के ढेले से

वइस्सामि—कहूँगा
वरत्ता—हाथी को बाधने की सांकल
वागरे—बोले
विणएज्ज—दूर करे
वितिमिस्सेहि—गृहस्थ और अन्य तीर्थिको से युक्त
वियड—शुद्ध (प्रासुक)
वुक्कस—सारहीन
वूहइत्ता—पोषण दे
वेराणुबद्ध—कर्म से बद्ध
वोच्चत्थेवुद्धि—विपरीत बुद्धि वाला
वोसिरिज्ज—त्याग करके

सखडि—भोजन स्थान
सखाए—ध्यान देना
सपन्ने—जानने वाला
सजोग—बाह्य और आभ्यन्तर सजोग
समणसारं—तपरूपी पुण्य
समासेज्ज—प्राप्त करके
सव्वण्णू—सर्वज्ञ
साइज्जइ—इच्छा करना
साइ—निद्रा आने पर
साइयासी—सोते थे
सुयकेवलि—श्रुत केवली
सूइय—कढ़ी युक्त भोजन

हयपुव्वे—हनन किये जाने पर